सम्राट् विक्रमादित्य

और

उनके नवरत्न

प्रणेता

पं० ईशदत्त शास्त्री 'श्रीश'
साहित्यदर्शनाचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ,
(रिसर्चस्कालर, गवर्नमेण्ट-संस्कृत-कालेज, काशी)

फरवरी १९४४ ई०

मातृ-भाषा-मन्दिर दारागंज प्रयाग

आमुख

लेखक विद्वद्रत्न महामहोपाध्याय पण्डित श्रीउमेशमिश्र एम्० ए०, डी० लिट्, प्राध्यापक प्रयाग-विश्वविद्यालय

आज कल विक्रम द्विसहस्राब्दी के उपलक्ष्य में भारतवर्ष के प्रत्येक कोने मे अनेक प्रकार से उत्सव मनाये जा रहे हैं। कहीं तो सप्ताह भर विशिष्ट विद्वानों के व्याख्यान से पूर्व स्मृतियाँ जनता के समक्ष रखी जा रही हैं, कहीं रग मंच पर नाटकों के अभिनय द्वारा प्राचीन कृतियों का साक्षात्कार लोगों को कराया जा रहा है, कहीं 'जय-स्तम्भ' की स्थापना का आयोजन हो रहा है, कहीं भारतीय प्राचीन कलाओं के नमूने को लेकर प्रदर्शिनियों का उद्घाटन हो रहा है, कहीं अधिकारी विद्वानों की लेखनी से लिखित निबन्धों से सुसज्जित स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है, कहीं पत्र पत्रिकायें विशेषांकों का प्रकाशन कर अपने उद्गार को प्रकट करने में दत्तचित्त हैं, विक्रम के साथ महाकवि कालिदास का घनिष्ठ सम्बन्ध मानकर कहीं उत्साही पण्डित कालिदास के ग्रन्थों का अनुवाद-सहित सुलभ और सुन्दर संस्करण निकालने में व्यग्र हैं, कहीं विक्रम की स्मृति मे गवेषणा-पूर्ण प्राच्यविद्या की उन्नति के लिये नवीन संस्थायें खोली जा रही हैं, तथा कहीं-कहीं विद्वान् स्वतन्त्र ग्रंथ लिखकर प्राचीन गौरव के स्मृतियों को उद्बुद्ध करने में संलग्न हैं। इस प्रकार अनेकविध-स्वरूप में प्राचीन गौरव के स्मरण से देश की इस दीन-हीन दुरवस्था में भी भारतीय अपने हृदय के उल्लासों को प्रकट करना अपना कर्तव्य समझते हैं। अपने देश के गौरवस्वरूप राजाओं, कवियों के गुणों का स्मरण कर उनके प्रति

अपने विविध उपायों से सुसज्जित श्रद्धाञ्जलि देकर अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। **"यद्यदा चरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः"** इस सिद्धान्त के अनुसार भावी सन्तानों के लिये यह आदर्श स्थापित करना भी इस महान् उत्सव का एक हृद्‌गत भाव है। उचित ही है **"कृते च प्रति-कर्त्तव्यमेष धर्मः सनातनः"** इम सनातनधर्मानुयायियों के लिये इससे बढ़ कर और है ही क्या !

इसी पथ के पथिक, इसी पूजन के पुजारी, इसकी ही भक्ति में तन्मय, **साहित्य-दर्शनाचार्य अभिनव तरुण-कवि श्रीईशदत्त शास्त्री 'श्रीश' जी** हैं। जिनकी कृति 'सम्राट् विक्रमादित्य और उनके नवरत्न' आज आपके सामने प्रस्तुत है। कविता क्षेत्र में, ललित-कला के उपासकों में तथा उत्साही संस्कृत के आधुनिक विद्वानों से 'श्रीश' जी अपरिचित नहीं हैं। अतः व्यक्तिगत उनके सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहना केवल पिष्टपेषण होगा। रही उनकी यह कृति यह भी आपके सामने है। यह पुस्तक इतनी सुसज्जित कवितामय, फिर भी छायावादियों की कविता के समान जटिलता या अर्थ-अनर्थ-द्योतकता से रहित तथा अत्यन्त सरल-भाषा में यह लिखी गई है, इस सम्बन्ध में भी मेरा कुछ न कहना ही श्रेयस्कर है। और फिर एक सरस कवि की तरुणी वाणी के सम्बन्ध में एक नीरस तथा अकवि का कहना ही क्या होगा !

रहा इस कृति का विषय और उसके सम्बन्ध में एक दो बातें भूमिका-लेखक के बहाने कहना अनुचित न होगा। अभी पुरातत्त्व के वेत्ता तथा ऐतिहासिक यह स्थिर नहीं कर सके कि विक्रमादित्य नाम के कोई महान् राजा भारतवर्ष में हुए हैं। अधिकांश ऐतिहासिकों की प्रायः यही धारणा है कि चन्द्रगुप्त ही का उपनाम विक्रमादित्य था और उन्हीं के नाम पर विक्रम सम्वत् रक्खा गया। शकों के नाश करने वाले बड़े पराक्रमी इस नाम के राजा हुए, इस मत के पक्ष में आस्तिक तथा नास्तिक ग्रन्थों में जो प्रमाण मिलते हैं, तथा जिनके आधार पर परम्परा-

गत जन-श्रुति चली आ रही है, वे सब प्रक्षिप्त तथा अमूलक कह कर अप्रमाणित किये जाते हैं और साक्षात् शिला लेखादिको में इनका कोई उल्लेख न पाकर केवल कल्पना क्षेत्र में विचरते हुए, हमारे ऐतिहासिक तत्त्व से दूर रहते हुए कभी किसी सिद्धान्त का समर्थन कर देते हैं, और कभी उसे खण्डन कर किसी दूसरे ही के पोषक हो जाते हैं।

यदि आप इतिहासों के या ऐतिहासिक निबन्धों के पन्ने उलटें तो आपको जितने लेखक उतने ही सिद्धान्त देख पड़ेंगे। इसमें दो प्रश्न हैं, एक तो विक्रमादित्य नाम के पराक्रमी राजा हुए या नहीं? और दूसरा विक्रम सम्वत् की स्थापना कब और किस प्रकार हुई?।

साधारण रूप में पहिले प्रश्न का उत्तर ऊपर कहा जा चुका है। द्वितीय प्रश्न के उत्तर में लोगों का कहना है कि ईसा के ५७ वर्ष पूर्व विक्रम सम्वत् मालवगण राज्य में आरम्भ हुआ। इसका प्रारम्भिक नाम 'कृत' तथा उसके बाद 'मालव' सम्वत् था। नवम-शताब्दी में चन्द्रगुप्त उपनाम विक्रमादित्य के नाम पर लोग इसे विक्रम संवत् कहने लगे।

११वीं शताब्दी के अमर-कोष टीकाकार 'क्षीरस्वामी' ने लिखा है 'विक्रमादित्यः साहसाङ्कः शकान्तकः' और तेहरवीं शताब्दी में लिखित "प्रभावक-चरित" नामक जैन ग्रन्थ के—

शकानां वंशमुच्छेद्य कालेन कियताऽपि हि।
राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोपमोऽभवत्॥

इस श्लोक से तो यह स्पष्ट है कि शकों के वंश को नाश कर विक्रमादित्य नाम के राजा हुए हैं। यह धारणा उसके बाद भी चलती आई। १५४८ शकाब्द में केशवी नामक 'जातक-पद्धति' के मंगल श्लोक पर टीका करते हुए दिवाकर दैवज्ञ ने अपनी प्रौढ़मनोरमा टीका में लिखा है।

'विघ्नं पातीति विघ्नपो गणेशः। यथा 'मृगप्राणहरे सिंहे मृगपति-प्रयोगो यथा च शकनृपप्राणहरे विक्रमादित्ये शकनृपप्रयोगस्तथा विघ्नहरे गणेशे विघ्नप इति।'

इत्यादि अनेक प्रमाणों से यह तो स्पष्ट है कि शक नामक या शक वंशीय राजा को मार कर 'विक्रमादित्य' राजा हुए। इतिहास से यह भी सिद्ध है कि ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी में शको का शासन था। फिर विक्रमादित्य नामक पराक्रमी राजा हुए थे जो चन्द्रगुप्त से भिन्न थे इसमें सन्देह करना आवश्यक नहीं मालूम होता है। इन सब को प्रक्षिप्त कथन कह कर अवहेलना करना भी उचित नहीं मालूम होता। यह तो मानी हुई बात है कि भारत की ऐतिसाहिक सामग्रियां अभी भी अन्धकार में छिपी हुई हैं। और सम्भवतः किसी न किसी दिन उनके मिल जाने पर बाह्यदृष्टि से जो अनुपपन्न मालूम होता है उसकी उत्पत्ति भी मिल जाय। फिर चन्द्रगुप्त के साथ विक्रमादित्य या विक्रम सम्वत् को जोड़ना और वह भी नवमी शताब्दी में जब कि गुप्त गौरव नष्ट हो चुका था, कहाँ तक संगत है, यह तो विचारणीय है! इन सबको देखते हुए हमें दो मत स्पष्ट देख पड़ते हैं। एक ऐतिहासिकों का और दूसरा भारतीय शास्त्र और जनश्रुति के पोषकों का।

मेरी तो धारणा है कि यह दोनों ही मत तब तक चलेंगे जब तक किसी के पक्ष में विशेष साधक या बाधक प्रमाण नहीं मिलेगा और तभी विक्रमादित्य के नवरत्नों का भी पूर्ण विवेचन हो सकता है। अतः इम ऐतिहासिक कलह को छोड़कर साहित्यिक दृष्टि कोण के आधार पर इन कविता साम्राज्य के महारथियों की ओर पाठकों की दृष्टि आकर्षित करें यही उचित होगा।

इसमें तो कोई सन्देह है ही नहीं कि इन नवरत्नों में प्रत्येक अमूल्य रत्न हैं। प्रत्येक अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं यद्यपि इन सबों में धन्वन्तरि, अमरसिंह, कालिदास तथा वराहमिहिर ही को विशेष

रूप में लोग आज कल जानते हैं, किन्तु और रत्नों का भी कोई संस्कृत साहित्य में स्पर्द्धी नही देख पड़ता। सस्कृत साहित्य का भण्डार अभी भी भूगर्भ में छिपा हुआ है। और बहुत कुछ तो नष्ट हो गया है इसलिये इस प्रकार के ग्रन्थ की आवश्यकता थी जिसमें इन रत्नों के सम्बन्ध में जो कुछ उपलब्ध है उसका सरक्षण हो जाय और बाद को धीरे-धीरे खोज के अनन्तर जो मिले उसका समावेश होता रहे। मुझे बहुत आनन्द है कि पं० ईशदत्त शास्त्री 'श्रीश' जी ने यह परिश्रम उठाया है और जो कुछ उन्हे उपलब्ध हो सका उसे एकत्रित कर आपके समक्ष उपस्थित किया है। इसके लिये हम सभी उनके कृतज्ञ हैं। ग्रन्थ यद्यपि बड़े परिश्रम से लिखा गया है, फिर भी इस ग्रन्थ का विषय इतना जटिल और महत्व का है कि इस पर अभी बहुत खोज और समय की अपेक्षा है। एक-एक रत्न के ऊपर एक-एक ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। किन्तु इसके लिये समय और द्रव्य की आवश्यकता है फिर भी जो कुछ हुआ वह बहुत आशा जनक है।

प्रत्येक अगो को देखते हुए हम इस ग्रन्थ को परिपूर्ण ग्रन्थ कहने में हिचकते हैं। एक तो वर्तमान सामग्री का और भी सुचारु रूप से उपयोग मे लाना आवश्यक था, और कवियों की आलोचना में सभी विषयो के समावेश का क्रम तथा प्रत्येक कवि के प्रत्येक ग्रन्थ का संक्षिप्त विवरण भी देना उचित था। शीघ्रता में छापे की अशुद्धियाँ भी बहुत रह गई हैं। यद्यपि ग्रन्थकर्त्ता ने 'घटकर्पर' नाम को 'घटखर्पर' रखना ही पसंद किया किन्तु एक तो प्राचीन ग्रन्थों में 'कर्पर' शब्द का ही प्रयोग मिलता है तथा जो अर्थ खर्पर (फूटा घड़ा) शब्द का उन्होने माना है वह अर्थ 'कर्पर' शब्द का भी है—'स्यात् कर्परः कपालोऽस्त्री' (अमरकोष २-६ ६८)। अतः शब्द परिवर्तन की आवश्यकता नहीं मालूम होती है।

'पत्रकौमुदी' श्रीविक्रमादित्य के निर्देश से वररुचि ने लिखा है यह

निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है—

"विक्रमादित्यभूपस्य कीर्तिसिद्धेर्निदेशतः।
श्रीमान् वररुचिर्धीमाँस्तनोति पत्रकौमुदीम्॥"

'लिङ्गविशेषविधि' तथा 'विद्यासुन्दरप्रसंगकाव्य' भी वररुचि ने बनाए थे।

"वररुचिनामा स कवि श्रुत्वा वाक्यं नृपेन्द्रस्य।
विद्यासुन्दरचरितं श्लोकसमूहैस्तदारेभे" ॥"

इत्यादि अनेक बिखरी हुई सामग्रियाँ हैं। जो क्रमशः एकत्रित करनी चाहिए। आशा है राष्ट्र के इस चिरस्मरणीय पुण्य-पर्व पर विद्वान् ग्रन्थ कर्ता का यह उपहार सभी के स्नेह और समादर का पात्र होगा।

———

गुम्फनिका

ब्राह्म-वेला !

आज नववर्ष का आदिम अरुणोदय है !

निर्मल-नीरव-नील-नभोदेश में रङ्ग-विरङ्गी झीनी-झीनी किरणों की कतारें मुस्करा रही हैं। इस ग्रन्थ की अन्तिम पंक्ति ने अपनी-सृष्टि के लिये यही समय चुना, यह मेरे लिये कितने आनन्द का विषय है।

× × ×

'विक्रम'–इस नाम में ही कितना उल्बण तेजस् है मानों हमारी अनेक शताब्दियों का प्रतप्त ज्वाला-पुञ्ज इन तीन अक्षरों में केन्द्रित हो गया है। इन अक्षरों ने जब-जब मुझे रोमाञ्चित किया है तब तब मैंने सचेत होकर अमूर्त की मूर्ति के अङ्कन के लिये तूलिका उठाई, पर, मेरा दुर्भाग्य कि रङ्ग गहरा कभी नहीं उतरा-अन्ततः आज—

'व्यर्थं बिना रसमहो गहनं कवित्वम्'

के रूप में असफल ग्रन्थ लेकर साहित्य-देवता के पुण्य-प्रांगण में अवतीर्ण होना पड़ा !

× × ×

इस पुस्तिका के निर्माण में 'कस्मै देवाय' या **'तदिह सम्प्रति कम्प्रति मे श्रमः'** की चिन्ता मुझे किंचिन्मात्र भी नहीं हुई क्योंकि वह स्थिति तो बहुत-से **'प्रसन्न गम्भीर पदा सरस्वती'** के धनिकों को ही शोभन है, मुझे जैसे दुर्बोध तो **आकृतिगणोऽयम्** बने रहें—यही सौभाग्य अधिक है !

× × ×

ग्रन्थ का शीर्षक भ्रामक हो गया है क्योंकि आगे चल कर हमें

पुराण-प्रथा के चिरकाल-प्ररूढ़ बेणी-बन्धन को तोड़ देना पड़ा है। अतः सार-ग्राहियों को यह संकेत करना आवश्यक है कि वे कृपा-पूर्वक पुष्पाजलि को अपने-अपने अञ्चल मे स्थान दे, और विकीर्ण मूर्धजो को हवा में उड़ने दे। प्रस्तुत-पुस्तिका 'सम्राट् विक्रम' से सम्बन्ध रखने वाले मेरे अर्धदग्ध विचारो का सीमित संकलन है। गृहीत प्रमाणो के मूल-स्थलों का उल्लेख पाद-टिप्पणियों में निस्सङ्कोचरूपेण कर दिया गया है। विचारो के अति वक्तृत्व और पुनरुक्ति से उत्पन्न होने वाली अरुन्तुदता से पाठक के मन को बचाने के लिये कहीं-कहीं 'रणि-तिम्कणिति' प्राय शब्दसरणि का आश्रय ले लेना ही उचित प्रतीत हुआ। भाषा का सौन्दर्य-विधान भी दैनिक पत्रों के वृत्त-संग्रह से ऊपर के स्तर को नहीं छू सका इसका प्रधान कारण लेखक के समीक्षा-शक्ति-दारिद्रय के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'गम्भीर विवेचन' या 'शास्त्रीय रूपरेखा' जैसा कुछ आधुनिक उपादान इसमें प्रयत्न करने पर भी प्राप्त न होंगे, क्योंकि इसके निबन्धन का उद्देश प्रतिभा-समान (प्रति-भासमान नहीं !) जनों के समक्ष **'मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये'** के अनुरूप ही कार्य करना है।

अनुक्षण नव-नवाविर्भूत तथा नित्य-नियमित प्रयोजन-बाधाओ ने समस्त प्रघट्टों की शैली को सम-रस नहीं रहने दिया। कालिदास जैसे अपने इष्टदेव की गौरव-गाथा 'अनुज्झितार्थसंबन्ध' न रह सकी और अन्य रत्नो के परिच्छेद भी कृश, कृशतर, कृशतम होते गये इसका एक मात्र हेतु प्रकाशक का तत्कालीन आदेश पत्र ही है। सर्वाधिक क्षोभ की अवस्था है, इस ग्रन्थ की सशोधन-हीनता जिसका मेरे ऊपर थोड़ा-सा भी उत्तरदातृत्व नहीं हो सकता। लेखक के काशी निवास में कृत-प्रतिज्ञ होने, ग्रन्थ प्रयाग में मुद्रित होने, तथा प्रकाशक के द्वारा कोई समुचित प्रबन्ध न होने से, लेखक को एक पृष्ठ के भी सशोधन-परिवर्तन परिवर्धन का सौभाग्य न मिल सका। ग्रन्थ के जितने फार्म, कदाचित् उतने ही संशोधकों ने नये-नये हाथ आ जमाये है—परिणाम स्वरूप पाठकों

के हृदय को प्रसन्न करने के लिये प्रत्येक पृष्ठ पर 'परिहास-प्रदर्शिनी' का उन्मुक्त अधिवेशन है। अन्त में यह कहना भी अवशिष्ट ही है कि प्रकाशन शीघ्रता के पाश में पड़ कर 'अनुक्रमणिका' जैसा उपयोगी वस्तु भी हम नहीं दे सकें।

× × ×

इस अवसर पर **महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र, एम० ए० डी० लिट्** प्राध्यापक प्रयाग-विश्वविद्यालय का कृतज्ञ हूँ, जिन्होने मेरी इस धूमिल ज्ञान-शिखा को अपने राशि-राशि चारु-चिन्तनो से चमत्कृत करने का कष्ट किया है। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र गुरुदेव **पं० महादेव शास्त्री, कवितार्किक चक्रवर्ती, डा० श्रीमङ्गलदेव शास्त्री एम० ए०, डी० फिल्, पं० रामनारायण मिश्र, पं० रामदहिन मिश्र,** आदि कृपालु गुरुजनों का सादर स्मरण करता हूँ जिनसे इस ग्रन्थ के विषय में विभिन्न अंशो में विभिन्न प्रकार से सहाय्य समुपलब्ध हुआ है। मालव-मेदिनी के मुकुट-मणि **पं० सूर्यनारायण व्यास** को विस्मृत करना सर्वथा अशक्य है, जिनकी ममता ही इस प्रबन्ध मे मूर्तिमती हो रही है!

× × ×

मेरी मोह-माया की रोम-राजि में प्रभात के समान ही अगड़ाई लाने वाले सस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध तरुण कवि भाई **'श्री प्रभात शास्त्री'** को किन शब्दो में अनुस्मृत करूँ, यह कल्पना-परोक्ष है! उन्होने प्रकृत-कृति में 'क' से 'म' तक तन्मय और जागरुक होकर, कष्ट सह कर, काम किया। उसका अनुभव उन्हीं तक है! मैं तो ऐसे 'समानधर्मा' को पा जाना ही अपना पुण्य-विशेष मानता हूँ। उन्हीं के साथ, 'मधुरेण समापयेत्' का नीति से, विशेषेण-विरहिनी **श्रीमती रामकुमारी का** शुभनामोल्लेखन मेरा आवश्यक कर्तव्य **है** जिनके अत्यपेक्षित सहयोग के बिना इस पुस्तिका का डेढ़ सप्ताह में लिखा जाना सहज नही था।

साथ ही अपने मधुर भाषी, प्रियदर्शी, प्रकाशक का हार्दिक अभि-

नन्दन करता हूँ, जिन्होंने मेरे अरूप को रूप में परिणत कर मेरा 'हर्ष-वर्धन' किया। अन्त में अपने पाठकों से यही कहना है कि वे प्रत्येक तत्त्व-रत्न को ऊहापोहरूपी 'शाणनिकष' पर चढ़ा कर ही ग्रहण करें इसी में मेरी और उनकी प्रतिष्ठा है। रह गये समीक्षक-जन, उनकी सेवा में अपने प्रिय-दार्शनिक 'दीधितिकार रघुनाथशिरोमणि' की निम्नाङ्कित सूक्ति उपस्थित करना ही सर्वोत्तम समझता हूँ।

मान्यान् प्रणम्य विहिताञ्जलिरेष भूयो, भूयो विधाय विनयं विनिवेदयामि।
दूष्यं वचो मम परं निपुणं विभाव्य, भावावबोधविहितो न दुनोति दोषः॥

'प्रिंस आफ वेल्स'
सरस्वती-भवन
काशी २००१ वि०

ईशदत्त शास्त्री 'श्रीश'

सहृदय-शिरोमणि

रायबहादुर पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी जी को,

सादर-समर्पित

ईशदत्त शास्त्री 'श्रीश'

सस्नेह भेंट—

विषय-तालिका

सचित्र

सम्राट् विक्रमादित्य और उनके नवरत्न

सम्राट् विक्रमादित्य

——:०:——

'तत्कृतं यन्न केनापि तद्दत्तं यन्न केनचित्,
तत्साधितमसाध्यं यद्विक्रमार्केण भूभुजा।

अर्थात् सम्राट् विक्रमादित्य ने वह कार्य किया जिसे कोई कर न सका, वह दान दिया जिसे कोई दे न सका और वह कार्य-सिद्धि प्राप्त की जो दूसरे से असम्भव थी !!

—कथासरित्सागर

—भारतवासी मात्र राम और कृष्ण के अनन्तर सम्राट् विक्रम के ही नाम को पुण्यश्लोक मानते हैं। लोक-कथाओं में आई हुई उनकी दानवीरता की बातें बलि, कर्ण, दधीचि का स्मरण करा देती हैं। उनका स्थापित किया हुआ 'विक्रम संवत्' भारतीय-संस्कृति का सर्वोच्च विजय-स्मारक और गौरव का प्रतीक है। आज से २००० वर्ष पूर्व का वह समय जिसे आधुनिक ऐतिहासिक 'अन्धकार युग' के नाम से सम्बोधित करते हैं —'विक्रम' उसके दृढ़ और आकाश-चुम्बी प्रकाश-स्तम्भ हैं। भारत भूमि के उस वीर पुत्र-रत्न का ही यह प्रताप है कि हम आज अपने सामने आर्य-सभ्यता की चमचमाती हुई २००० सुनहली कड़ियों को गिन रहे हैं। उनके दिव्य-जीवन का यह सबसे बड़ा आश्चर्य था कि उन्होंने अपनी उमड़ती जवा यौवन-बेला में ही टिड्डी-दल के समान

एक साथ धरती-आकाश में घहराने वाले, मानव रक्त के प्यासे, ऊँचे और भयानकडील डौल वाले, अस्त्र-शस्त्रों से सन्नद्ध, पशु-तुल्य हिंसक, मृत्यु के हृदय को भी आतङ्कित-कम्पित करने में समर्थ, युद्ध-दुर्धर्ष, मदोन्मत्त-बर्बर अगणित शक सैनिकों की भीषण-रण-वाहिनी से लोहा लेकर उनका समूल संहार किया, अपनी महाशक्ति का डंका बजवाया और इस दिग्विजय के उपलक्ष्य में ही संसार के सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक-दीर्घकाल तक चलने वाले संवत्सर का संस्थापन किया !!

वे अपने समय के सब से बड़े शूरमा और महान् शासक के गुणों से युक्त थे। 'मालवाखण्डल' 'अवन्तीनाथ' आदि उपाधियों से उनके अखण्डित पौरुष का अनुमान होता है।

पुराणों और जैन-अनुश्रुतियों से यह स्पष्ट पता लगता है कि उनके माता-पिता का नाम वीरमती और गन्धर्वसेन महेन्द्रादित्य था१ और इनका जन्म भी भगवान् शंकर के प्रसाद से उन्हींके अंशावतार के रूप में हुआ जिसका लक्ष्य भी आर्य-धर्म-ध्वंसक शक-जाति का विनाश करना था२।

१—देवांगना वीरमती शक्रेण प्रेषिता तदा।
गन्धर्वं सेनं संप्राप्य पुत्ररत्नमजीजनत्।
भविष्य-पुराण खं० १ अ० ७

२—त्वमादौ विक्रमादित्यः सृष्टोऽभूः स्वांशतो मया।
म्लेच्छरूपावतीर्णानामसुराणां प्रशान्तये॥
अतः सद्वीपपातालां स्थापयित्वा महींवशे।
विद्याधराणामचिरादधिपारो भविष्यसि॥
भुक्त्वा दिव्यांश्चिरं भोगानुद्विग्नः स्वेच्छयैव तान्।
त्यक्त्वा ममैव सायुज्यमन्ते यास्यस्यसंशयम्॥
—कथा सरित्सागर ६६ तरंग

युवावस्था में उनका शरीर देवतुल्य दर्शनीय था। लम्बी-लम्बी बाहें घुटने तक फैली हुई थीं, वक्षः स्थल ऊँचा चौड़ा था, कटि-देश पुष्ट और ढालदार था, ऐसा मालूम होता था मानों विश्वकर्मा ने अपने चक्र-यन्त्र पर चढ़ा कर उनकी आकृति और शोभा को चमका दिया था[१]। उनकी राजधानी उज्जयिनी नगरी उस समय पृथ्वी की 'अमरावतीपुरी' कहलाती और सम्राट् विक्रमा दित्य उसके शासक महेन्द्र के समान शोभित होते थे[२]। उनकी अद्वितीय सुन्दरी सकल-सद्गुणशालिनी पतिव्रता-शिरोमणि महारानी का नाम भानुमती देवी था[३]। उन्होंने अपने रहने के लिये उज्जयिनी में भगवान् ज्योतिर्लिङ्ग महा कालेश्वर

१—अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति।

रघुवंश ६ सर्ग ३२ श्लोक.

२—अस्ति क्षितावुज्जयिनीति नाम्नी पुरी विहायस्यमरावतीव
ददर्श यस्यां पदमिन्द्रकल्पः श्रीविक्रमादित्य इति क्षितीशः।

—नवसाहसांक चरित महाकाव्य

३—that Bhanumati was the name of the queen of the first Bikramaditya the founder of the malawa era and the king of the Awanti,"—

('कालिदास' प्रणेता के० एस० रामस्वामी शास्त्री पृ० ६३)

चन्द्रमौलि के मन्दिर से मिला हुआ एक सुन्दर राजमहल बनवाया था। जिसके झरोखों से शिप्रा-तट के उद्यानों के पुष्प-सुरभित और तरङ्ग शिशिर पवन के झकोरें आया करते थे१।

उनके अपने खड्ग का नाम 'अपराजित्' था जो साक्षात् भगवान् महादेव के हाथ से मिलने के कारण 'यथा नाम तथा गुणः' था२। उस खड्ग को कवियों ने राजलक्ष्मी का नीलम-मणि खचित राज-पर्यङ्क, पुरुषार्थरूपी समुद्र की उच्छुल तरङ्ग, पृथिवीरूपी रानी का कञ्चुकी, और न जाने क्या-क्या उपमायें दी हैं३। उनके पास सजी-सजायी एक

१—असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः।
शिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु॥

—रघुवंश ६ सं० ३४-३५ श्लोक

२—अपराजितनामानं खड्गं चैतं गृहाण मे।
यस्य प्रसादात्सर्वं त्वं प्राप्स्यस्येतद्यथोदितम्॥
इत्युक्त्वा खड्गरत्नं तत्तस्मै दत्त्वा महीभृते।
वाक्पुष्पाभ्यर्चितस्तेन देवः शम्भुस्तिरोदधे॥

—शशांकवतीलम्बक (कथा सरित्सागर)

३—पर्यङ्को राजलक्ष्म्या हरितमणिमयः पौरुषाब्धेस्तरङ्गः।
सङ्ग्रामत्रासताम्यन्मुरलपतियशोहंसनीलाम्बुवाहः॥
भग्नप्रत्यर्थिवंशोल्वणविजयकरिस्नानदानाम्बुपट्टः।
'खड्गः' क्ष्मासौविदल्लः समिति विजयते 'मालवा खण्डलस्य'

—सुभाषित रत्नभाण्डागार

समर-चतुर चतुरंगिणी सेना रहती थी, जिसके एक साथ रण-प्रयाण करने पर उसके घोड़ों की टापों से उठी हुई धूल से बड़े-बड़े सामन्त-नरेन्द्रों के मुकुट मलिन पड़ जाते थे[१]। उनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम 'भर्तृहरि' था जिनकी रानी पिङ्गला या 'अनङ्ग सेना' थी[२]।

किसी सिद्ध बेताल के कहने से उन्होंने भगवती दुर्गा को इष्टदेवी बनाया जो कदाचित् आज भी 'हरसिद्धि' के नाम से उज्जैन में मौजूद[३] है। मन्दिर के पृष्ठ भाग में कुछ सिन्दूर-चर्चित नर-मुंड रखे हुये हैं। जो विक्रमादित्य के ही कहे जाते हैं। विक्रम ने भगवती को प्रसन्न करने की इच्छा से ग्यारह बार अपने हाथों से अपने मस्तक की बलि दी, परन्तु बारबार सिर आजाता था। बारहवीं बार सिर नहीं आया। यहां शासन सम्पूर्ण हो गया। इस तरह की बलि प्रति बारह वर्ष में एक बार की जाती थी। इस प्रकार उनका साम्राज्य-शासन १४४ वर्ष का होता है। किन्तु विक्रम का शासन-काल १३५ वर्ष माना जाता है[४]। व्याकरण

१—अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्ते-रग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि,
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनांप्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि।
—रघुवंश ६ स०

२—'मेरुतुङ्ग'—प्रणीत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' का प्रथम प्रबन्ध।

३—तस्मात्त्वं विक्रमादित्य भज दुर्गां सनातनीम्।
शिवाज्ञया त्वहं प्राप्तस्त्वत्समीपे महीपते!॥
प्रश्नोत्तरेण भूपाल मया त्वं सम्परीक्षित।
भुजयोस्ते स्थितिर्मे स्याज्जहि सर्वरिपून् युधि॥
दस्युनष्टाः पुरीः सर्वाः क्षेत्राणि विविधानि च।
शास्त्रमानेन संस्थाप्य समयं कुरुभो नृपः॥ —भ० पु०

४—'सचित्र उज्जयिनी'

(पं० सूर्यनारायण व्यास)

शास्त्र में नवीनसरणि के प्रवर्तक श्रीचन्द्राचार्य वसुराया उनके शिक्षक थे१। इनकी राज सभा के सदस्य एक से एक विद्वान्, बहुश्रुत, वार्ता कुशल, ज्ञान-विज्ञान-धुरीण कवि-कोविद थे२। उस समय संसार भर में उनकी उदारता की तूती बोलती थी३।

इतना होने पर भी उनके मन मे लेशमात्र भी अहंकार नहीं था४। वे पितृ-हीनों के पिता, बन्धु हीनों के बन्धु, अनाथों के नाथ और प्रजाओं के सर्वस्व थे५। जैसे आकाश ही आकाश के

१—'भारतीय महापुरुष'

(शिवशकर मिश्र, कलकत्ता-संस्करण)

२—'आर्ये ! रसभावदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य अभिरूपभूयिष्ठापरिषदियम्'

—अभिज्ञानशाकुन्तल (प्रथम अंक)

३—आक्षे दर्शनमागते दशशतो संभाषिते चायुते।
यद्वाचा च हसेहमाशु भवता लक्षोऽस्य विश्राण्यताम्॥

निष्काणां परितोषके मम सदा कोटीर्मदाज्ञा परा।
कोशाधीश ! सदेति विक्रमनृपश्चक्रे वदान्यस्थितिम्॥

—प्रबन्ध चिन्तामणि

४—'अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः।

—विक्रमोर्वशीयम्

५—स पिता पितृहीनानामबन्धूनां स बान्धवः।
अनाथानाञ्च नाथः स प्रजानां कः स नाभवत्॥

समान है, जैसे समुद्र के समान समुद्र ही है। उसी भांति विक्रम के समान विक्रम ही हैं—उनकी तुलना में कोई ठहर नहीं सकता१। जब सारी धरती विधर्मियों के अत्याचार से कांप उठी, राजा भयभीत होकर भाग पड़े, नारायण भगवान् निद्रामग्न थे, कलि के प्रताप का प्रसार निर्बाध रूप में हो उठा। इस भयानक-समय में वैदिक धर्म की रक्षा के लिये एक मात्र उसी युवा पार्थिव ने अपने कृपाण को ऊँचा किया२। अपने जीवन में उन्होंने अनेक सामन्तों को शस्त्र-बल से वशीभूत कर उन्हे 'करद-राज्य' बनाया और अन्त में प्रतिष्ठानपुर (पैठन दक्षिण भारत) के नरेश शालिवाहन के साथ समर करते हुये इहलीला को समाप्त किया३।

वे श्री और सरस्वती के लाड़ले लाल होने के साथ-साथ वर्णाश्रम धर्म रूपी दुर्ग के बलिष्ठ और सतर्क प्रहरी थे। गौ, ब्राह्मण, अनाथ और नारियों की खोज-खबर वे स्वयं लेते थे। उस सिंह के समान थे जो

१—अम्बरत्यम्बरं यद्वत्समुद्रोऽपि समुद्रति।
विक्रमार्कमहीपाल ! तद्वत्त्वं विक्रमार्कसि॥

—रस गंगाधर (द्वितीय आनन)

२—आक्रान्तासु वसुन्धरासु यवनैरासेतुहेमाचलम्।
विद्राणेक्षितिभृद्गणे विकरुणे निद्राति नारायणे॥
निर्विघ्नप्रसरे कलावपि बलान्निष्कण्टकं वैदिम्।
पन्थानं किल तत्र तत्र परिपाल्यैको हि लोकोत्तरः॥

—सुभाषित

३—विक्रमार्कचरित्तम्।

(पञ्चमी कथा)

एकाकी होने पर भी वन-प्रदेश पर एकच्छत्र राज्य करता है। वे अपने समय के अप्रतिद्वन्दी महाभट, परन्तु दुःख भञ्जन और शरणागत प्रतिपालक थे। अपनी तेजस्विता और तपस्या से उन्होंने उस समय के वातावरण को सत्ययुग की भांति धर्ममय बना दिया था। वे स्वतन्त्रता के अमर सन्देश वाहक और विजय लक्ष्मी के स्वयंवृत दयित थे। उनकी ललकार से आकाश झुकता था और वसुंधरा डोलती थी। उनकी हांक सुनकर शक-सीमन्तिनियों के बेणी बन्धन अपने आप तड़क कर टूट जाते थे। उन्होंने अपने प्रचण्ड भुजदण्ड के भरोसे दुनियां को तावे में कर रखा था। इस प्रकार सम्राट् विक्रमादित्य के इस संक्षिप्त शब्दचित्र से उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं से पाठक परिचित हो गये होंगे।

वह मालवा ! वह अवन्ती !!

—:०:—

तत्र भवान् सम्राट् विक्रमादित्य मालवप्रदेश और अवन्ती (उज्जयिनी) के क्रमशः 'आखण्डल' और 'नाथ' थे अतः इन दोनों की तत्कालीन स्थिति क्या थी ? इसका ज्ञान सर्वप्रथम आवश्यक है। सम्राट् विक्रम के समय के मालवा प्रदेश और अवन्ती नगरी का वर्णन अनेक प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थों में रोचकता के साथ आया। मैथिल पण्डित पद्मनाभ मिश्र के शब्दों में उस समय उज्जयिनी में चंचला लक्ष्मी स्थिर होकर जम गई थी और सरस्वती घर-घर में क्रीड़ा करती थी। एक से एक धुरन्धर विद्वान् भूपति विक्रम के आश्रय में रहते थे[१]। उस समय का मालव-प्रदेश आज कल की भांति सीमित नहीं था, किन्तु गुजरात से लेकर बुन्देलखण्ड तक विस्तृत, नर्मदा के उत्तर की भूमि, जिसमें चम्बल, बेतवा आदि नदियों का उद्गम है, उसीको मालव-भूमि कहते थे। कहीं-कहीं इसे 'माल' भी[२] कहते थे। महाकवि कालिदास ने

१—चञ्चलाऽप्यचला लक्ष्मीर्वाणी यस्य गृहे गृहे।
विशुदन्तमहं वन्दे विक्रमो यत्र भूपतिः ॥

—व्याकरणादर्श (वंश परिचय)

२—मालं मालव देशे च।

—(यादव कोष)

भी अपने विरही यक्ष के द्वारा मेघ को मार्ग-दर्शन कराते हुये मालदेश की बाल-ललनाओं के लोचनों को 'भ्रूविलासानभिज्ञ' और प्रीति स्निग्ध वतलाया है[1]। वस्तुत; पर्वत-प्रचुरता से उन्नत रहनेवाले भू-खण्ड को माल-क्षेत्र कहते हैं। जो मालव भूमि के लिये ठीक-ठीक बैठता[2] है। वह मालव दो भागों में बटा था। उत्तरी मालव की राजधानी उज्जयिनी और दक्षिण मालव की माहिष्मती थी। इस मनोहर प्रदेश को चर्मण्वती, शिप्रा, गम्भीरा, वेत्रवती, सिन्धु, तमसा आदि कलकलनादिनी तरङ्गिणियां शोभायमान करती थी।

'अवन्ती' शब्द का भी व्यवहार पुरातन काल में जनपद के ही अर्थ में मिलता है[3]। उस समय मालव सचमुच भारत का मध्य हृदय-

---

१—"त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य 'मालं
....।"

—पूर्वमेघ (१६ श्लो०)

२—मालमुन्नतभूतलं।

—(उत्पल माला)

३—स्वयं कालिदास ने भी इसी अर्थ में अवन्ती का प्रयोग निम्न-प्रकार से किया है—

'प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्।'
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्॥'

(मेघ)

देश था। इस प्रदेश की अपनी स्वतन्त्र भाषा थी जिसका नाम कि 'आवन्ती' था। भास के नाटक 'स्वप्नवासवदत्ता' के मनन से पता लगता है कि इस प्रदेश की नारियों की बेशभूषा भी अपनापन लिये हुये थी१। उनका 'ततः प्रविशत्यावन्तिका वेषधारिणी वासवदत्ता'—यह वाक्य इसका स्पष्ट सूचक है। ऐतिहासिकों का यह सर्वसम्मत मत है कि प्राकृत का जन्म भी यहीं हुआ। नाटकों की 'आवन्ती' रीति भी इसी जनपद-मणि के स्मृति-द्वीप को जगा रही है। सङ्गीत-आगम का सुप्रसिद्ध-रससिद्ध 'मालवराग' इसी वसुमती की मधुरिमा का परिचय देता है। स्वयं सम्राट् विक्रम अपने युग में 'दीपक राग' के हृदयहारी गायक थे। विश्व को बेसुध बनाने वाली वासवदत्ता जा की वीणा यहीं बजी थी। इस प्रकार यह सुन्दर जनपद ललितकलाओं का स्वयं सिद्ध रङ्गमञ्च सा प्रतीत होता है।

पता नहीं इस देश की स्थापना कब किसने की। वैदिक उपनिषद एवं पुराणयुग से लेकर आज तक के ग्रन्थों२ में इस प्रदेश का सर्वत्र

१—परवर्ती कवि राजशेखर ने तो अवन्ती देश की अङ्गनाओं के वर्णन में "........................ . ..."

विनावन्तीर्न निपुणाः सुहृदो रतनर्मणि"।

लिख कर रसिकता की सीमा दिखा दी !!

२—राजपुत्र्यास्तु गर्भः स मालव्या भरतर्षभ

... ...। ॥२३॥

प्राप्ते काले तु सुषुवे कन्यां राजीवलोचनाम्॥

... .।

सावित्रीत्येवनामास्याश्चक्रुर्विप्रास्तथा पिता ॥२४॥

—महाभारत वनपर्व

उल्लेख मिलता है। महाभारत की प्रसिद्ध पुण्य-कथा 'सावित्री-सत्यवान' किसे ज्ञात नहीं है ?। सावित्री का पिता अश्वपति और माता 'मालवी' थी ?। इसी सावित्री पर प्रसन्न होकर यम ने वरदान दिया था कि 'तुम्हारे पिता से तुम्हारी माता 'मालवी' को 'मालव' नाम वाले १०० पुत्र होंगे। वे तुम्हारे सौ भाई देवों के समान तेजस्वी, दीर्घायु और पुत्र-पौत्र-सम्पन्न होंगे१। यह एक उदाहरण इसके लिये पर्याप्त है कि मालव जनपद प्राचीन ही नहीं अपितु अति प्राचीन है। स्कन्दपुराण के कुमारखण्ड में इस प्रदेश के ग्रामो की संख्या ११८१८० कूती गई है। भविष्यपुराण के प्रतिसर्ग पर्व, खण्ड १, अध्याय ६ के एक श्लोक से यह पता चलता है कि 'अवन्त देश में ४ योजन के विस्तृत भू-क्षेत्र पर अम्बावती पुरी को बसा कर प्रमर भूप सुखपूर्वक रहने लगा२। कहा नहीं जा सकता कि इससे क्या अनुमान किया जाय।

पर आज कल के 'बुद्धिवादी' भारत इतिहास के अन्वेषक विदेशी विद्वानों का मत है कि मालववीर, मालवक, मालवगण, कहीं बाहर से आकर यहाँ बस गये और उन्होंने इस वर्तमान मालवा कहलाने वाली भूमि को मालवा का नाम दिया। करकोट नगर (जयपुर) के सिक्कों से

२—पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि ॥५९॥
मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः।
भ्रातरस्ते भविष्यन्ति क्षत्रियांस्त्रिदशोपमाः ॥६०॥

म० भा० वनपर्व

३—अवन्ते प्रमरो भूपश्चतुर्योजनविस्तृताम्।
अम्बावती नाम पुरीमध्यास्य सुखितोऽभवत् ॥

यह प्रमाणित होता है कि मालव लोग ईसवी सन् पूर्व १५० या १०० तक अपने निवास स्थान में पहुंच गये। वे लोग भटिंडा (पटियाला राज्य) के रास्ते गये थे जहाँ वे अपने नाम के चिह्न छोड़ गये। (यह चिह्न 'मालवई' नामक बोली के रूप में है जो फीरोजपुर से भटिंडा तक बोली जा रही है) और उस प्रदेश का नाम ही मालव पड़ गया। मालव नाम का अवशिष्ट अब तक उस प्रांत के ब्राह्मणों में मिलता है। जो मालवी कहलाते हैं। अब इस शब्द को संस्कृत रूप देकर 'मालवीय' बना लिया गया है। ये मालवीय ब्राह्मण गौरवर्ण के और सुन्दर होते हैं—विशेष रूप से बुद्धिमान होते हैं। ये लोग बढ़ते-बढ़ते इलाहाबाद तक आकर बस गये हैं[१]।

सुप्रसिद्ध संशोधक-विद्वान् राहुल सांकृत्यायन का कहना है कि 'मालव' देश का पुराने समय में यह नाम नहीं था। बुद्ध के समय और बहुत पीछे तक भी उसे अवन्ती जनपद कहा करते थे। मालव मल्ल का ही दूसरा रूप है। मल्लजन भारत में प्रथम आये। वे आर्यों के मूल जनों (कबीलों) में से एक थे। बुद्ध के समय में मल्लो का गण मही (गंडक), गंगा, सरयू नदियों के बीच में उस जगह था, जहाँ कि आज छपरा जिला और गोरखपुर जिले का दक्षिणी भाग है। लेकिन मालवा में जो मल्ल गये, वे ये पूर्वी मल्ल नहीं थे। आज कल पूर्वी पजाब के फीरोजपुर आदि जिलों को भी मालवा कहते हैं। और मल्ल वंश वाले वहाँ बहुत से जाट अब भी बसते हैं। लेकिन सिकन्दर के समय (ई० पूर्व ४ थी सदी) जिन मल्लो ने सिकन्दर की सेना के दाँत

१—डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल का हिन्दू-राज्य-तन्त्र (मालव-क्षुद्रक-प्रकरण)

खड़े किये थे और खुद सिकन्दर को घायल किया था (यही घाव अन्त में सिकन्दर की मृत्यु का कारण हुआ), वे पश्चिमी पंजाब के वर्तमान झंग आदि जिलों में रहते थे। जान पड़ता है यूनानियों और शकों के पंजाब के शासन के समय (ई० पूर्व पहली सदी) में उनमें से कुछ अपने जनपद में परिस्थिति प्रतिकूल देख प्रवास करने पर मजबूर हुए। और अंत में उनका प्रभुत्व इतना जमा कि उसका नाम ही बदल कर मालवा हो गया[1]! जो कुछ भी हो, भारत-जननी के हृदय-स्थानीय इस मालव-प्रदेश की अनादिकाल से प्रतिष्ठा प्रमाणित है। यह जनपद अपनी लोकोत्तर श्रेष्ठता-ज्येष्ठता, वीरता-धीरता, काव्य-कला-कुशलता, वाणिज्य-उद्योगशालिता के लिये गर्वोन्नत-नाम का धारक है। इसी धर्म-भूमि के रण-बंके तरुणों ने अपनी करवाल-लेखनी से यूनान-सार्वभौम के दानवाकार और अथक लड़ाके सिपाहियों के वज्र-पुष्ट शरीरों पर अपनी अडिग साहसिकता का अटल कीर्तिलेख अंकित किया। ऐसा ज्ञात होता है कि सम्राट् विक्रमादित्य के समय में मालव शुद्ध गणतन्त्र राष्ट्र था और उसके संरक्षक के पद पर स्वयं सम्राट् कार्य करते थे।

आह! आज का मालवा तो सिमट कर उज्जैन के इर्द-गिर्द में समाप्त हो गया है। जो मालवा पूर्वकाल में अपनी संगीत-साहित्य-महाविद्या के लिये प्रसिद्ध था वह आज की ब्रिटिश सरकार की छत्रच्छाया में 'अफीम' के व्यापार का सब से बड़ा 'अड्डा' है। जिस मालवा की कहावत है—

'मालव धरती गहन गम्भीर!
पग पग रोटी मग मग नीर!!

वह मालवा ! वह अवन्ती !!

वहाँ आज बुभुक्षा का उन्मत्त ताण्डव-नृत्य हो रहा है। जहाँ का पीन-पुष्ट और लावण्यमय मालवीय गेहूँ दुनियाँ की बाजार को पाट देता था, वहाँ आज उसका 'अदर्शनं लोपः' हो गया है—इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य हो सकता है—

'पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्' !!

(उत्तर रामचरित)

पान्थों के श्रम को अपने प्रकृति रमणीय दर्शन से अपहरण करने वाला आम्रकूट जिसकी काली नागिन सी वेणी के रंग सी स्निग्ध वर्णा, और पके हुए फलों के भार से झुकी, सरस रसाल-वाटिका के सघन-कुंजों में वनचर-वधू विहार किया करती थीं, आज कहाँ है ! विन्ध्य-गिरि के चारु-चरण पर मिलन-आकांक्षणी मुग्ध-मानिनी के समान अञ्चल डालने वाली 'रेवा' आज क्या बोलती है ! वह विलास-शालिनी चञ्चल-लहरियों वाली नेत्रवती ! उसकी तरल-तटी पर शोभायमान वह राजनगरी 'विदिशा' और वह पकी हुई काली-काली जामुनों का रसीला देश 'दशार्ण' आज किस दशा में है। जिसकी गहन कन्दराओं में रमण-चतुर नागरी-कामिनियाँ अपने उद्दाम यौवन की रस-भिनी बेला को बिताती थीं; जिसके चारों ओर सुरभि-मुखरित खिले फूलों वाले कदम्ब-तरु श्रेणीबद्ध खड़े थे वह 'नीचैः' गिरि आज किस प्रकार काल-क्षेप करता है। इन विविध विशेषताओं से सुसज्जित रहने वाले मालव-प्रदेश का आज कहीं कुछ भी पता नहीं है। उस समय का भारत-हृदय मालव देश आज 'ग्वालियर, होल्कर, रतलाम, भोपाल और धार राज्य' जैसे अनेक टुकड़ो में बँट कर 'शतच्छिद्रं चीनांशुकम्' के स्वरूप में परिणत है।

एक दृष्टि अवन्ती नगरी पर भी दी जाय तो हृदय को भी हृदय से उछ्वास उठता है। यह नगरी अति प्राचीन समय से विद्यापीठ के रूप में पूजित थी। भगवान् कृष्ण ने इसी नगरी के ऋषि सान्दीपनि के आश्रम में अध्ययन किया था। उपनिषद्, वराहपुराण, काशीखण्ड, ब्रह्मपुराण, अग्निपुराण, गरुड़पुराण, शिवपुराण, वामनपुराण, मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीमद्भागवत, सौरपुराण, आदि धार्मिक ग्रन्थों में इस पुण्यपुरी का उज्ज्वल और अनेकविध उल्लेख मिलता है। जिससे इसके अनन्य माहात्म्य का पता लगता है।

इसी नगरी के 'याम्योत्तर वृत्त' (meridian) के देशान्तर सूचक रेखाओं (Langitude) की गणना की जाती थी। अपिच अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यह नगरी व्यापार का प्रधान केन्द्र थी। शरीरधारी भारत के मानचित्र में यह नगरी भारत के मध्य-स्थान में भी मध्य (नाभि) है। भारत की मोक्षदायिनी सातपुरियों में इसका छठवां स्थान है। भारत के स्वयम्प्रादुर्भूत द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से अन्यतम भगवान् महाकालेश्वर की यह परमप्रिय लीला स्थली है। भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न कारणों से इसके अनेक नाम मिलते हैं[१]। मङ्गलग्रह की जन्मभूमि होने का सौभाग्य भी इसी नगरी को प्राप्त है। भारत की तीर्थयात्रा यहीं से आरम्भ की जाती है। यह परम-पवित्र पुरी वैदिक सनातनधर्म का सनातन क्षेत्र, कला-कौशल का केन्द्र, विविध आर्य-विद्याओं का महापीठ, और ज्योति शास्त्र का सर्वसम्मानित आधार स्थल है। आर्य भट्ट-वराहमिहिर जैसे लोक-प्रसिद्ध संस्कृत-वाङ्मय-रत्नों ने यहीं पर अपनी ज्योति को प्रकट किया। पुराणों में तो यहां तक कहा गया

अवन्तिका, कनकशृंगा, कुशस्थली, उज्जयिनी, पद्मावती। कुमुद्वती, अमरावती, श्रीविशाला, विशाला आदि।

है कि मानवसृष्टि का आरम्भ इसी नगरी से हुआ। इसी भाँति की अगणित-अपरिमित शास्त्रीय और सांस्कृतिक महत्ताओं के कारण यहां प्रतिबारहवें वर्ष, सिंहराशि के गुरु के आने के समय यहां सिंहस्थ कुम्भमेला लगता है—उस समय देश-विदेश के लाखों करोड़ों नर-नारी यहां एकत्र हो जाते हैं।

उत्तरोत्तर प्रसाद गुण पूर्ण चित्त-चमत्कारिणी कथाओं की अमर-प्रतिभा 'सोमदेव' ने यहीं पाई थी। जगत्प्रसिद्ध प्रियदर्शी अशोक संम्राट् ने अपने स्वर्णिम-शासन-काल में अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को यही से बुद्ध-वाणी' का अमृत-रस पिलाने के लिये विदेशों को भेजा था!

ससार की आंख में ज्ञान-अञ्जन भर देने वाली कविता शलाका भर्तृहरि को यहीं मिली। पत्थर को भी पानी की भाति द्रवित कर देने वाले, भारतभू के अमर करुणगायक 'भवभूति' की भावना यहीं परिमार्जित हुई। 'द्विरदगति' मत्त चकोर-नेत्र' 'शूद्रक' की लेखनी ने रसवन्ती 'वसन्त सेना' की मृदुल-चञ्चल और अंगडाई लेनेवाली रंगीन तरुणाई की रूप-रेखा का आभार यही पाया था। अपनी विश्व-विमोहिनी तरल-'कादम्बरी' के मधुचषक से समस्तलोक को मत्त करनेवाले'महाकवि बाण' की वाणी को इसी नगरी ने अपने चिरन्तन सौन्दर्य-सार से अनुप्राणित किया था। आचार्य 'वराहमिहिर' की 'पञ्चसिद्धान्ती 'को आविष्कृत कराने का श्रेय सर्वथा इसी भूषित-भूमिका को है। सन्क्षेप में यह नगरी अनन्य है, धन्य है, असामान्य है। किन्तु इसका सबसे बड़ा मोहक और लुभावना रूप विक्रम के साम्राज्य युग में अधिष्ठित हुआ। उस आर्य-कुल-कमल-दिवाकर के आधिपत्य में इस नगरी का सौन्दर्य चमचमा उठा था। स्वप्न-लोक में मिलनेवाले गन्धर्व नगर की रमणीयता इसकी छवि-छटा

के सामने प्रतिहत थी। वह अतीत का उदात्त-चित्र आज-कल के भी कवि को भूल न सका१। ससार भर के सहृदयों के अन्तःकरण की तन्त्री को एक साथ झनझनाने वाले, प्रकृति के सुकुमारगायक 'कालिदास' तो इस नगरी के विक्रम-कालीन रूप-सज्जा पर 'दिलो-जान से फ़िदा' हैं। कहीं वे यहां के ऊँचे-ऊँचे प्रासादों में विहार करनेवाली विदग्ध-नायिकाओं के, बिजली के गुच्छे के समान चमक भरे चञ्चल कटाक्षों को न देख पाने पर जीवन को वञ्चित समझते हैं। कहीं 'शिप्रा' की चल-चटुल-जल-कण से शिशिर और चित्र-विचित्र-सुमन-सुसन्तति से सुरभित मन्द-मन्द-गामी प्रातः कालीन पवन के झूमते-झकोरों से रात्रि की काम-केलि से व्यथित-शरीरा रमणी के श्रम-हरण होते देख पुलकित होते हैं। कहीं जवाकुसुम की लाली से रंगे हुए सन्ध्या-काल में आनन्दमग्ना भवानी के सामने कुतूहल पूर्वक नृत्य करने वाले नीलकण्ठ भगवान् की बाहों में उलझ कर स-जल सुहावने जलधर की मधुर मृदङ्ग-मद-हारी मन्द-ध्वनि पर मुग्ध हो उठते हैं, तो कहीं पावस की अंधियारी अमा-विभावरी में 'रिमझिम-रुमझुम' फुहियों के बीच प्रिय-मिलन के लिये आकुल होकर अभिसार करनेवाली सुकुमारियों के ऊपर अचानक कनक-रेखा के समान सौदामिनी की

१—नररूप रत्नों से सजी थी वीर विक्रम की सभा।
अब भी जगत में जागती है जगमगी जिनकी प्रभा॥

जाकर सुनो उज्जैन मानो आज भी है कह रही।
मैं मिट गई पर कीर्ति मेरी तब मिटेगी जब मही॥

—मैथिलीशरण गुप्त

चमचमाहट देख कर शंकित हो उठते हैं कि कहीं ये लौट न आयें...! इतनी सुन्दरता की अधिकारिणी थी वह विक्रम-कालीन उज्जयिनी। यदि मालव प्रदेश नन्दन-वन था तो उज्जयिनी थी उसमें मीठे और मादक वसन्त का पहला झोंका! यदि मालव-मही चमचमाती हुई शुद्ध स्वर्ण-मुद्रिका थी तो उज्जयिनी थी उसमें जटित अनमोल रत्न-रेखा। इतिहासज्ञ बतलाते हैं, कि पुरातन-उज्जयिनी में महाकाल-मन्दिर में महाभारत की कथा होती थी। शोभा और वैभव के अवतार के रूप में दिखाई देनेवाला यह मन्दिर सैकड़ों गज ऊँचा था। गगन स्पर्शी सुन्दर शिखर मन्दिर की विशालता प्रकट कर रहा था। सभा-मण्डप में खुदाई का काम बहुत कलापूर्ण बना हुआ था। अनेक प्राचीन कला-चित्र अंकित थे। प्रवेश द्वार पर सुनहली जंजीरों में अनुरणन-घण्टिकायें लटक रहीं थीं। मोती-रत्नों से जटित तोरण तथा झालरें शोभायमान हो रही थीं। सभा मण्डप के बीच-बीच में रत्न-पुञ्ज के बेशकीमती झूमर लटक रहे थे, जिनकी रंग-विरंगी आभा संगमरमर से बनी हुई स्वच्छ फर्श पर छिटका करती थी। मन्दिर के एक कोण में प्रताप-समुद्र महारानी सम्राट् विक्रमादित्य की स्वर्ण-मूर्ति रखी रहती थी[१]। किन्तु पाठकों को यह जान कर अवश्य ही हार्दिक दुःख होगा कि यह सारी शोभा-सुन्दरता ईस्वी सन् की बारहवीं शताब्दी में देहली के गुलाम-वशीय 'अल्तमश' के रक्त-रञ्जित तलवार के वार से 'दुःखान्त-कहानी' के रूप में परिणत हो गई जो आज भी वैसे ही परिणत है। वह चमन जो बुलबुलों की चहक से खिलखिलाता था कंटीले झाड़-झंखाड़ों से आखों मे शूल की तरह चुभता-गड़ता है। ज्ञात होता है, भविष्य की घटनाओं को मन में रख कर ही भर्तृहरि ने लिखा था —

१—पं० सूर्यनारायण व्यास कृत 'सचित्र उज्जयिनी' (पृष्ठ १९)

"सा रम्या नगरी महान् सनृपतिः सामन्तचक्रंच तत्,
पार्श्वेतस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः।
उन्मत्तः स च राजपुत्र-निवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः,
सर्वंयस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मैनमः॥"

वह जगमगाती राजधानी! वह महान् सम्राट्! वह सामन्तों का समूह! बड़े-बड़े कला-कोविदों से विभूषित वह राज-दरबार!वे चन्द्र-मुखी चितचोर ललनायें! वह मदोन्मत्त राजकुमारों का झुण्ड! वे प्रशस्ति-पाठक चारण! वे बातें!—यह सब कुछ आज जिसकी कृपा से विस्मृति के गहरे गर्त में डूब गया उस काल भगवान् को बार-बार नमस्कार!!! किन्तु अवश्य ही अवन्ती (उज्जयिनी) जिसका वर्णन कालिदास की अमृतवाणी ने 'दिवःकान्ति मत्खण्डमेकम्, (स्वर्ग का एक कान्तिमान खण्ड) के रूप में किया है, वह सदा अजर-अमर है, और रहेगी, उसे तो कालभगवान् के भी भगवान् नहीं मिटा सकते।

विक्रम-कालीन भारत

—:o:—

विक्रम-काल पर अन्धकार की 'सूचीभेद्य' छाया है, फिर भी कहीं-कहीं किरणों का उन्मेष झलकता दिखाई पड़ता है, जिसके आधार पर यह विवेचन-प्रस्तुत किया गया है। विक्रम के पूर्व में अशेष दिगन्तों में ग्रीष्म के सूर्य के सदृश प्रतापी मौर्य-साम्राज्य काल-चक्र रूपी पावस की झड़ी में विलीन हो चुका था। अनेक छोटे-छोटे राजतन्त्र और प्रजातन्त्र राज्यों की स्थिति देश भर में व्याप्त थी। मगध में शुंग (बाद में कण्व वंश) कलिग में चेदिवंश, दक्षिण में आन्ध्रवंश और उत्तर पश्चिम में यवन वंश, ये ही कुछ राज्य थे जो अपने राजोचित तेज से देदीप्यमान-से लग रहे थे। उस काल का वृहत्तर भारत सर्वथा अनियन्त्रित था। फल स्वरूप वह सभी विदेशी योद्धाओं के आकर्षण का केन्द्र-विन्दु था। उस युग में क्रीट, मिस्र, बेवीलोन और यूनान की सभ्यता का चन्द्रमा सदा के लिये डूब चुका था। जर्मनी और रूस का तो पता भी नहीं था, यही हाल अमेरिका का भी था। आज का लोकोत्तर ब्रिटिश-द्वीप उस समय वस्त्रहीन-बुद्धिहीन और पशु-तुल्य जीवन विताता हुआ दलदल और जंगलों के बीच किसी प्रकार वर्तमान था। उस समय की सब से बड़ी गौरव-पूर्ण दो विदेश शक्तियां थी, रोम और चीन। उस समय रोम की बलशालिनी बाहों के नीचे इटली का स्वर्ण-युग निर्मित हो रहा था। पूर्व में यूनान और एशिया माइनर, पश्चिम

में स्पेन और फ्रांस रोम-राज्य के अधिकृत उपनिवेश थे। उत्तर अफ्रीका में मिस्र, कारथेज और भूमध्यसागर तट के कुछ प्रान्त रोम की सीमा का परिचय देते थे। चीन भी हान वंश के तत्त्वावधान में सजग हो रहा था। राजपदाधिकारियों को परीक्षा लेने के बाद पद देने का नियम उसी समय चलाया गया। मुद्रण यन्त्रालय (छापाखाना) का आरम्भ उसी समय किया गया और संसार को आश्चर्यजनक वस्तुओं में से एक आक्रमण-रक्षक चीन के चारों ओर की दीवाल भी उसी समय बनवाई गई।

उस समय दो विदेशी योद्धा जातियों (शक और पल्हव) ने भारत पर आक्रमण किया। इसमें शक गण सर्वप्रथम दूसरी शताब्दी (ईसवी पूर्व) के अन्त में भारत के पश्चिमी भाग पर दिखाई पड़े और शीघ्र ही वर्षाकाल के मेघों के समान देखते देखते देश भर में आच्छन्न हो उठे। लगभग १०० ईसवी पूर्व उन्होंने उज्जैन पर आधिपत्य जमा कर पश्चिमी खण्ड पर अपना प्रभुत्व जमाया और उज्जैन तथा सिन्ध से तीनों तरफ बढ़ कर दक्षिण के आन्ध्रवंश से कोंकण तथा महाराष्ट्र की उत्तर पश्चिम कोना छीन लिया, मध्य देश के शुंगो से मथुरा-विदिशा का भूखण्ड ले लिया और उत्तरा पथ के यवनों से मद्र, केकय तथा गान्धार भी हथिया लिया। इस प्रकार शकों का राज्य सिन्ध के मुहाने और शिप्रा के कांटे से एक तरफ सिना और दूसरी तरफ स्यात की दूनों तक पहुंच गया[१]। इन शूर-वीर, दुर्दान्त, आर्य हन्ता शक-द्वन्दियों की कौंधती हुई प्रताप शक्ति के सामने किसकी हिम्मत थी कि सिर उठावें। किन्तु भारत वसुन्धरा की कोख को सफल बनाने

१—भारतीय इतिहास की रूप-रेखा, जिल्द २, पृ० ७७२।

वाले वीर-राज महासेनानी विक्रमादित्य को अपने धार्मिक देश पर विधर्मियों का अत्याचार असह्य हो उठा। उन्होंने अपनी लोक प्रियता का उपयोग करते हुये मालवों की एक बड़ी समरवाहिनी सजाई। उसे देश धर्म के प्रति कर्तव्य को पूरा करने के लिये उन्मत्त बना दिया[१], और अपने उन देशप्रेमोन्मत्त तरुण-सहयोगियों के कृपाणों की पांति से शकों के रुण्ड-मुण्ड से समर भूमि को पाट कर उज्जयिनी सहित समस्त मालव-प्रदेश को स्वाधीन कर दिया। इस दिग्विजय की स्मृति को चिरस्थायी बनाने की इच्छा से नवीन संवत् भी चला कर उन्होंने अपने सार्वभौम सिंहासन की प्रतिष्ठा बढ़ा दी।

इसके बाद उन्होंने अपना शासन-दण्ड मजबूती से सम्हाल कर हिन्दुत्व की रक्षा की। अनुमान होता है कि उनके असह्य तेज से आक्रान्त होकर विदेशों की यवन, पह्लव, शक, ऋषिक, तुखार आदि जातियों का रक्त भारतीय समाज में घुल-मिल कर एक हो गया। अर्थात्

१—विन्सेट स्मिथ ने अपने 'प्राचीन भारत के इतिहास' में लिखा है कि एक जाति के म्लेछों ने ईसा के पूर्व १५० वर्ष उत्तर-पश्चिम से दो टोलियों में इस देश में प्रवेश किया। पहली टोली ने तक्षशिला और मथुरा पर अधिकार कर 'क्षत्रप' नाम से शासन किया। पर आगे चल कर उनका कुछ पता नहीं चलता। दूसरी टोली ने काठियावाड़ पर अधिकार जमाया और ईसा की प्रथम शताब्दी में उज्जैन पर हावी हुये और गुप्तवंशी राजाओं से भगाये गये। इस पहली टोली को पराजित करने वाले ईसवी सन् पूर्व ५७ के सम्राट् विक्रमादित्य ही थे। जिन्होंने इसी विजय की स्मृति में नवीन संवत् का प्रवर्तन किया।

—चिन्तामणि विनायक वैद्य

सभी ने भारत भूमि को जन्म भूमि मान कर, भारतीय नाम और वेश-भूषा को अपनाया। देश के तरुण-समाज में उन्होंने साहस का शख फूंक दिया। जिससे प्रभावित होकर उसे भारतीय वीर-युवकों ने बीहड़ जगल, दुर्गम घाटियों और क्षुब्ध समुद्र की फुफकारती लहरों की परवाह न कर दूर-दूर देशों में जाकर भारतीय सस्कृति का क्षेत्र विस्तृत किया। उस समयके दो१ विदेशी लेखकों के विवरण से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत एक महान् उन्नत देश था। भारत के व्यवसायी जल-पोतों के द्वारा सुदूर मिश्र, ग्रीस और रोम-साम्राज्य मैं आते-जाते थे। रोम की किशोरियां इस देश के बने हुये 'चीनांशुक' (महीन वस्त्र) और रंग-विरगे मादक-गन्धवाली, सौन्दर्य की वस्तुओं के लिये लल-चाया करती थीं। यहां की खानो से निकले हुये मणियों और हीरों को देखते ही रोम के धनिक-जन अधिक से अधिक मुद्रायें देकर खरीद लेने को अधीर हो उठते थे। चीनी तो कदाचित् भारत वर्ष के अतिरिक्त और कहीं बनती ही नहीं थी। यहा के समुद्री मोतियों की उज्ज्वल-कोमल-सुभज सुन्दर छटा पर विदेशी दंग हो उठते थे। हाथी के दांत के खिलौनों की कारीगरी तो विश्रुत ही थी। दक्षिण भारत के बहुत से स्थानों की खुदाई से उस युग के रोम की बहुत-सी स्वर्णमुद्राये उपलब्ध हुई है—यह निश्चित है कि ये मुद्राये वाणिज्य-सूत्र से ही भारत में आई। सम्राट् विक्रमादित्य के समय में ताम्रलिप्ति या तामलूक, भृगुकच्छ या भरौंच, मुजिरिस था मंगलोर सुप्रसिद्ध बन्दरगाह थे। बहुत से विद्वानों का यह अनुमान है, कि उस युग में भारत-निवासियों ने जावा, बाली, सुमात्रा और कम्बोज इत्यादि भारतीय महासागर के के द्वीपों पर अधिकार कर वहां उपनिवेश स्थापित किया-इन सब स्थानों में अब भी हिन्दू-सभ्यता के अगणित चिह्न पाये जाते हैं।

१—प्लीनी (Pliny) और पेरिप्लस (Pariplus)

भर्तृहरि और उनका राज्य-त्याग

—:o:—

सम्राट् विक्रमादित्य के वैयाधेय (सौतेले) भाई का नाम भर्तृहरि था । ज्येष्ठ होने के कारण साम्राज्य पर उन्हीं का अधिकार था पिता के बाद उन्होंने शासनकार्य सुचारु रूप से चलाया । उनकी अधीनता में विक्रमादित्य सेना तथा कर-ग्रहण सम्बन्धी व्यवस्था को परिश्रम तथा उत्तम रूप में सम्पन्न करते थे । राजा भर्तृहरि की पिङ्गला पिङ्गाक्षी या अनङ्गसेना आदि नामों की एक परम सुन्दरी और गुणवती रानी थी । उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर भर्तृहरि तन्मय हो गये थे जिससे राज्य-कार्य का सारा भार विक्रमादित्य के कन्धे पर ही था । किन्तु इसी समय भर्तृहरि के जीवन में एक दैव-घटित सयोग आ पड़ा, जिससे उनकी आखे खुली । उन्होंने राज-पाट भाई को सौंप कर अपने जगल की राह ली । वह घटना इस प्रकार है—

उज्जयिनी में एक सकल शास्त्र-विचक्षण विशेषतः मन्त्र-तन्त्रज्ञ ब्राह्मण ने दरिद्रता से आकुल होकर भगवती 'भुवनेश्वरी' को अपने कठोर जप-तप से प्रसन्न कर लिया । भगवती ने साक्षात् प्रकट होकर, प्रसन्न मन से उस ब्राह्मण को एक दिव्य अमृत-फल देकर कहा, कि तुम इसे खाकर सदा के लिये अजर-अमर हो जाओगे । भगवती के अन्तर्ध्यान हो जाने के बाद ब्राह्मण ने जब अमृत-फल खाने की इच्छा करते हुए विचार किया, यदि मैं इसे खाकर सदा के लिये जन्म-मरण-

हीन हो जाऊँ तो इससे संसार का लाभ तो कुछ नहीं हो सकता, हां यदि यह फल कहीं भर्तृहरि खा लें तो वे अजर-अमर होकर धर्म-पूर्वक संसार भर का पालन करेंगे। इस विचार के आते ही वह ब्राह्मण फल लेकर राजा भर्तृहरि के पास दरबार में जाकर –

"अहीनां मालिकां बिभ्रत्तथा पीताम्बरं दधत्।
हरो हरिश्च भूपाल ! करोतु तव मङ्गलम् ॥"

हे राजन् ! सांपों की माला पहिनने वाले भगवान् शंकर और पीताम्बर धारण करने वाले भगवान तुम्हारा मंगल करें।

इस आशीर्वाद के साथ उस अमृत-फल को उन्हे भेंट में दिया। उस फल को देवी के प्रसाद से प्राप्त और अमर कर देने वाला भी बतलाया। राजा भर्तृहरि ने बड़ी प्रसन्नता से उस फल को ले लिया और ब्राह्मण को अनेक ग्रामों का दान दिया। जब राजा को अमृतफल खाने की इच्छा हुई तो उन्होंने विचार किया कि मैं इस फल के खाने के बाद अजर-अमर होकर कभी नहीं मरूँगा। किन्तु मेरी रानी मुझे प्राण से भी अधिक प्रिय है—मेरे जीते जी जब. वह मरेगी तो उसके वियोग का दुःख मुझसे सह नहीं जायेगा। सब से अच्छा यही है कि इस अमृतफल को मेरी रानी ही खायें और मैं जीवन भर उसके सौन्दर्य-अमृत का पान करू। अन्ततः उन्होंने रानी पिङ्गला को उस फल का गुण बतलाकर खाने के लिये दे दिया। अब यहां से घटनाचक्र दूसरा हो जाता है। रानी का अपने विश्वस्त 'माथुरिक' नाम के दास पर गुप्त प्रेम था, बस-उस प्रेमी को अमर बनाने की इच्छा से उन्होंने उस अमृत फल को उसी के हवाले कर दिया और उस 'माथुरिक' ने भी अपने मन की रानी एक 'चहेती' के हाथ उस फल को दिया। उस 'चहेती' दासी के मन में बसा था एक बांका गोपालक (अहीर) युवा, अतः

वह फल उसके भाग्य में आगिरा और उस गोपालक की प्रीति थी एक गोवर पाथनेवाली सलोनी तरुणी पर, जिसके आंचल में वह 'अमृत-फल' प्रेम-भेट की दशा में आया। उस गोबर पाथनेवाली ने अपनी टोकरी में उपले भर कर उसके ऊपर उस अमृतफल को रख लिया। उज्जैन की गलियों में उपले बेचने चल पड़ी। उस समय उधर ही राजा भर्तृहरि अपने दरबारियों के साथ आ रहे थे। न जाने उस गोबर पाथनेवाली के मन में कौन-सा सात्विक भाव उठा कि उसने एक विनीत प्रजा की भांति अपने अमृतफल का बखान करते हुये राजा को भेंट कर दिया।

उस अमृतफल को लेकर राजा भर्तृहरि आश्चर्य-सागर में डूबने-उतराने लगे। किन्तु कोई भी समाधान न हो सका। अन्त में उन्होंने उस फल के देने वाले ब्राह्मण को बुलाया और कहा कि क्या उस अमृतफल का दूसरा जोड़ा भी ससार में है ?। ब्राह्मण ने शास्त्र को शपथ ले करकहा —

राजन् ! आप सब देवताओं के स्वरूप हैं, अतः आपके सामने मैं असत्य नहीं बोल सकता। किन्तु आप स्वय कहें कि क्या आपने फल खा लिया है। राजा ने उत्तर दिया, न, मैंने स्वयं नहीं खा कर अपनी प्रेम की मूर्ति रानी को दे दिया था। ब्राह्मण ने कहा राजन् ! तो फिर आप रानी जी से ठीक-ठीक पता लगाइये कि उन्होंने खाया या नहीं। तब राजा ने दृढ़ हो कर रानी से पूछा, रानी ने 'माथुरिक' को दे देने की बात कही। माथुरिक से दासी का और क्रमशः अन्त तक की सारी घटना का रहस्य खुल गया। राजा के आश्चर्य और उद्वेग का कहीं अन्त न था ! मारे विषाद के उनके मुख से अकस्मात् यह पद्य निकल पड़ा।

"यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृतेऽपि परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥"

अर्थात् जिसे मैं प्राण से भी अधिक मानता हूं, वह मुझसे विरक्त है और दूसरे को चाहती है। वह दूसरा भी उसे न चाह कर किसी दूसरी रमणी पर आसक्त है। वह रमणीभी उसे न प्यार कर मुझे मानती है— उस प्रेयसी को धिक्कार ! उस प्रेमी को धिक्कार ! उस काम-वेग को धिक्कार ! उस नारी को धिक्कार और फिर मुझे धिक्कार जो इस गहन माया-भ्रम-जाल में पड़ा हुआ हूँ !!

इस दुःखदायिनी और प्रतारणा-पूर्वक होनेवाली घटना से उनका मन संसार से एक दम अलग हो उठा और उन्होंने अपना विचार इस प्रकार बना लिया--

'न वैराग्यात् परं भाग्यं न बोधात् परमः सखा ।
न हरेरपरस्त्राता न संसारात् परो रिपुः ॥"

वैराग्य से बढ़ कर भाग्य नहीं, ज्ञान से बढ़ कर मित्र नहीं, ईश्वर से बढ़ कर रक्षक नहीं और संसार से बढ़ कर शत्रु नहीं, और उच्छिष्ट अन्न के समान सारे वैभव पर लात मार कर उस अमृत फल को खाकर वन में चले गये। कहा जाता है कि राजा भर्तृहरि सदा के लिये अजर-अमर है और स्वेच्छानुसार भ्रमण किया करते हैं। ऊपर वाली कथा कई प्रकार से कई पुस्तकों में आज-कल दिखाई पड़ती है किन्तु मैंने इसे 'द्वात्रिंश पुत्तलिका' के शुद्ध आधार पर तैयार की है। कुछ लोगों का यह भी मत है कि राजा भर्तृहरि की अनेक रानियां थीं।

जिनमें पिङ्गला सब से बढ़ चढ कर सुन्दरी और राजा की प्रेयसी थी। उस की मृत्यु हो जाने पर विरह-दुःख न सह सकने से भर्तृहरि विरागी हो गये[1]। जो कुछ भी हो भर्तृहरि ने वैराग्य का बाना अपनाया अवश्य और 'नाथ' सम्प्रदायक के प्रसिद्ध प्रवर्तक 'गुरूगोरखनाथ' योगी का शिष्यत्व भी ग्रहण किया। अभी तक उज्जैन में शिप्रा तट पर एक परम विचित्र गुफा है। जिसमें उन्होंने योग-साधन किया था। गुफा के भीतर संकुचित द्वार है, जिसमें गुफा के जाने का पथ मिलता है वहां उनकी 'धूनी' थी। कहा जाता है कि इस गुफा के अन्दर ही अन्दर चारों धाम जाने का रास्ता है। इसी तरह काशी के पास चुनार गढ़ के ऊपर भी एक टीले में भर्तृहरि की गुफा है। जहां से भीतर ही भीतर उज्जैन तक आने का मार्ग बतलाया जाता है। इस प्रकार की तीसरी गुफा स्वयं लेखक ने जबलपुर-यात्रा में नर्मदा के पंचवटी घाट के ऊपर पहाड़ के उन्नत-अञ्चल पर १०८ सीढ़ियों के ऊपर बने हुये अति प्रचीन और अपूर्व कलामय ६४ योगियों के मन्दिर के द्वार के सामने ही देखा जिसका परिचय वहां के अधिवासियों ने 'भर्तृहरि की गुफा' के नाम से ही दिया।

राजा भर्तृहरि बड़े ही उत्कृष्ट कवि और कला-पारखी विद्वान् थे। सांसारिक अनुभव तो शायद उनके समान विरले ही पुरुष में मिलेगा। उनकी बहुत-सी-रचनाये प्रसिद्ध हैं, परन्तु तीन शतक लिख कर तो उन्होंने अपनी कीर्ति सचमुच अमर कर ली है। शब्दो की सरलता, अर्थों की हृदय हारिता और भावो की गहराई लाने में वे सँस्कृत—वाङ्मय के वेजोड़ कवि है। उनके प्रणीत तीनो शतको में उनके

---

१ — भर्तृहरि जनवेंद नाटक।

राजकीय और लौकिक अनुभवो का निचोड़ भरा हुआ है। उनकी वाणी मन को रिझाती नहीं है, अपितु हृदय पर अमिट प्रभाव डालती है। वे एक देवदूत के समान सन्देश देते हुए से दिखाई पड़ते हैं। जीवन की रंगीन बारीकियों को उन्होंने ठीक नाप तौल कर परखा है। जो कुछ कहते हैं मानो अपने जीवन की घटना उसमें रख देते हैं। प्रसङ्ग-वश उनकी कुछ रचनाओ का आस्वादन पाठकों को करा दिया जाता है।

शृंगार

नूनं हिते कविवरा विपरीतबोधा:,
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम्।
याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः,
शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाःकथंताः॥''

वे कवि-जन अवश्य ही विपरीत बुद्धि वाले हैं, जिन्होंने कामनियो को सर्वथा 'अबला' ही मान रखा है, भला वे 'अबला' कैसे हो सकती हैं, जिन्होंने अपने चञ्चल और तरल कटाक्षो से इन्द्रादि देवो को भी वश मे कर रखा है!

''सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति,
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणाम्.
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति॥''

ये रमणियां मनुष्य के कोमल हृदय में पहुंच कर उसे सम्मोहित करती हैं, मतवाला बनाती हैं, विडम्बना करती हैं, भर्त्सना देती हैं

उससे रमण करती हैं और उसे विपद में डालती हैं। वामलोचनायें क्या-क्या नहीं करती हैं।

"आवासः किल किंचिदेव दयितापार्श्वे विलासालसः,
कर्णे कोकिलकाकलीकलकलः दीप्ता लतामण्डपाः।
गोष्ठी सत्कविभिः समं कतिपयैः सेव्याः सितांशोः करा,
केषांचित्सुखयन्ति नेत्रहृदये चैत्रे विचित्राः क्षपाः॥"

थोडे ही में भाग्यशाली पुरुष है जिनके नेत्र मधुर-मधुर छाया-शीतल लतामण्डपों की बहार लेते हैं। जिनके हृदय चैत की चांदनी में चन्द्रमा की ठण्डी २ किरणों का आनन्द लेते हुये, सत्कवियों को गोष्ठी काव्य-चर्चा का अस्वादन करते हैं। जिनके कानों में वसन्तकाल की 'कुहू' कुहू' गूँजती है और जो विलासवती कोमल-कामिनी के साथ समय विताते हैं !!

"मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
कन्दर्प दर्पदलने विरला मनुष्याः॥"

इस पृथिवीं पर मदमत्त हाथियो के गण्ड स्थल को फाडनेवाले शूरवीर बहुत से है और बहुत से ऐसे भी योद्धा पुरुष हैं जो प्रचण्ड सिंहों का भी वध निश्शक होकर कर सकते हैं। किन्तु बड़े बड़े बलवानों के सामने मै हठ पूर्वक कहने को तैयार हूँ कि कामदेव के वेग को हटाने में समर्थ वीर विरले ही होते हैं।

धन्यास्त एव तरलायत लोचनानां,
तारुण्यपूर्णघनपीन पयोधराणाम् ।
क्षामोदरोपरिलसस्त्रिव लीलतानां
दृष्ट्वाकृतिं विकृतिमेति मनो न येषाम् ।

वे पुरुष धन्य हैं जो चञ्चल और बड़ी-बड़ी आंखों वाली, तरुणाई से पुष्ट और पीन उरोजोंवाली तथा त्रिवली-भूषित कृश उदर वाली ललनाओं के सौन्दर्य को देखकर तनिक भी विचलित नहीं होते हैं।

नीति

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृति सिद्धमिद हि महात्मनाम् ॥

विपति आने पर धीरज रखना, अभ्युदय पाने पर क्षमावान होना, सभा में चतुरता पूर्वक बाते करना, युद्ध में विक्रम दिखलाना, कीर्ति में रुचि रखना, अच्छी अच्छी बातों के सुनने का अभ्यास रखना—यह सब उत्तम पुरुषों का स्वाभाविक लक्षण है।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समा विशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरण मस्तु युगान्तरेवा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पद न धीराः ।

नीतिज्ञ पुरुष चाहे निन्दा करे या स्तुति, लक्ष्मी चाहे रहे चाहे जायें, मरण चाहे आज हो या किसी दूसरे युग में, धीर मनुष्य न्यायोचित पथ मे एक पग भी इधर-उधर नहीं होते।

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तःसन्ति सन्तः कियन्तः॥

मन-वचन-काय से सर्वदा प्रसन्न, त्रिभुवन भर को उपकार से आनन्दित करनेवाले, दूसरे के छोटे-से-छोटे गुण को पहाड़ की तरह बड़ा बनाकर चित में मुग्ध होनेवाले, सज्जन, इस संसार में कितने हैं !!

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

सज्जनों की सङ्गति, बुद्धि की मन्दता को हरती है, वाणी में सत्य का सचार करती है, सम्मान की वृद्धि करती है, पाप को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है, दशों दिशाओं में कीर्ति का प्रसार करती है— और क्या-क्या करती है।

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्नतु कंकणेन।
आभाति कायः करुणापराणां, परोपकारेण न चन्दनेन॥

कान की शोभा अच्छी अच्छी बातों के सुनने ही से है कुण्डल लटकाने से नही ! हाथ दान देने से शोभित होते हैं कङ्कण पहिनने से नहीं, करुणामय चित्तवालों का शरीर परोपकार से ही शोभित होता है चन्दन लगाने से नहीं !!

वैराग्य

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ।
वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमलीनकन्था
हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति ॥

भीख माँगने पर मिला हुआ एक बार रूखा-सूखा भोजन प्राप्त होता है, धरती ही पलंग का काम देती है, परिवार के नाम पर शरीर मात्र है, जर्जर और सैकड़ो टुकड़ों में झूलने वाली कथड़ी वस्त्र के रूप में है, हा ! इतने पर भी विषय-वासनायें साथ नहीं छोड़ती हैं ?

गङ्गातरङ्गकणशीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः ॥

भागीरथी के तरङ्ग की फुहारों से ठण्डे और किन्नर गंधर्वों के निवासयोग्य सुचारु शिलातलो वाले, हिमालय के प्रदेश क्या आज नष्ट हो गये जो मनुष्य दूसरे के द्वारा अपमानपूर्वक दिये जाने वाले अन्नपिण्ड पर गुजर-बसर करते हैं ?

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहे ।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ॥

वृद्धावस्था बाघिन की भाँति डरा-धमका रही है, नाना प्रकार के रोग शत्रुओं की भाँति देह पर आक्रमण कर रहे हैं, फूटे हुये घड़े से

जल की तरह आयु क्षण-क्षण पर क्षीण होती जा रही है, शोक ! फिर भी यह ससार अनुचित कार्य ही करता है ।

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः ।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ताः
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम् ॥

भगवान् शंकर में अनन्य भक्ति है, हृदय में मरने-जीने का भय है, भाई-बन्धु की ममता नहीं, काम-विकारों से कोई मतलब नहीं। विजन वन-प्रदेश में सङ्ग-दोष का अवसर नहीं—इस वैराग्य से बढ़कर आनन्द और कहाँ है !

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानोऽपि गलितः
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।
शनैर्यष्ट्युत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो भ्रष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥

भोग की आकांक्षा निवृत्त हो गई, अपने पौरुष का अहंकार भी आज गल गया है, प्राण से भी प्यारे समवयस्क संगी साथी स्वर्गलोक चले गये, छड़ी के सहारे उठने-बैठने की नौबत आगई, दोनों आँखें घने तिमिर से रुँध गई हैं फिर भी शरीर मरने के नाम ही से चकित हो जाता है—कितना आश्चर्य है !

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयं ।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

भोग-विलास में कभी न कभी रोग का भय है, कुल से च्युत होने का भय है, धन रहने पर राजा से भय है, मानी होने पर दीन होने का भय है, बल होने पर शत्रु का भय है, रूप होने पर बुढ़ापे से भय है, शास्त्रज्ञान होने पर प्रतिवादी से भय है, गुण होने पर दुष्ट से भय है, शरीर होने पर यमराज का भय है—संसार की सभी वस्तुएँ मनुष्य को भय देनेवाली है; परन्तु वैराग्य।ही एक ऐसा पदार्थ है जिससे किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता।

इस प्रकार की अनूठी और मनोहर उक्तियों से इनके तीनों शतक भरे पडे हैं। सभी श्लोक साहित्य-सरोवर के उज्जवल-कोमल-मंजुल-मोती के दाने हैं जिनकी चारुतारूपी चमक 'आचन्द्रतारकं' रहेगी। मालूम होता है कि इन्होंने राज्य कर के और छोड़ के जितने भी हृदय के चमत्कारक अनुभव-रत्नों का सञ्चय किया, संसार के भी लाभ के लिये तीनों शतकों के रूप में—उन अनुभव-रत्नों की जगमगाहट भरी 'प्रदर्शिनी' सजा दी है। दो हजार वर्षों में निरन्तर चलनेवाले कालचक्र का प्रभाव इन रत्नों पर तनिक भी मलिनिमा नहीं ला सका है मानों कोई दृढ़व्रत पहरेदार इनकी रखवाली कर रहा हो—पाठक! उस तेजस्वी सन्तरी का नाम 'यश' तो नहीं है?

विक्रम और उनके संवत् की प्रामाणिकता

[संवत् राष्ट्र की संस्कृति का मुख्य प्रतीक है और जातीय गौरव का स्तम्भस्वरूप है। संवत् शाका चला लेना अतुल पुरुषार्थ सूचक है। यह जातिमात्र की शक्ति की बहुत बड़ी कसौटी है।]

—डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल।

भारतीय पण्डितों का यह हार्दिक विश्वास है कि शक विजय के उपलक्ष्य में मालवगण के पराक्रम की चिरस्थायी स्मृति के लिये सम्राट् विक्रमादित्य ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर विक्रम संवत् का प्रचलन किया किन्तु जैसा कि यूरोपीय विद्वानों की मनोवृत्ति है वे किसी भी भारतीय उत्कर्ष-चित्र को 'अतिरंजित' 'अर्वाचीन' या 'कल्पित' कह कर उसका मान घटाने के लिये प्राणपण से प्रयास करते हैं—कुछ ऐसा ही कार्य विक्रमादित्य के संवत् के विषय में भी किया गया है। डा० कीलहार्न ने इस युग को ही विक्रम (पराक्रम) काल बताकर इस संवत् से किसी व्यक्ति-विशेष का सम्बन्ध मानना ही अस्वीकार कर दिया है! डा० हार्नले नाम के अँग्रेज़ विद्वान् ने मालवा के एक माण्डलिक राजा यशोधर्मन को ही विक्रम-संवत्-स्थापक होने की उदारता दिखाई है। इसी प्रकार के आधारों पर एतद्देशीय ऐतिहासिको में भी किसी ने गौतमीपुत्र सातकर्णि के द्वारा ही ई० पूर्व ५८ वर्ष में

नहपान का पराजय मान कर विक्रमादित्य का दर्शन कराया है और आज तो जिसको देखिये वही मगध-सम्राट् समुद्रगुप्त के नामांकित आत्मज द्वितीय चन्द्रगुप्त को ही 'विक्रमादित्य' विना ननु-नच के मान रहा है। परन्तु इन सभी बातों से इन सभी 'अकाट्य' तर्कों और युक्तियों से 'प्रथम विक्रमादित्य' की स्मृति और भी अधिकाधिक देदीप्यमान होती जाती है। चन्द्रमा की किरणों से खिले हुये कुमुद को अन्धकार कैसे दबा सकता है?

(१) इन विपक्षी मनीषियों के मुख्यतम सन्देह का विषय यही है कि विक्रमादित्य नामधारी तत्कालीन सम्राट् का कोई उल्लेख या कोई प्रमाण कहीं नहीं प्राप्त होता तब उसके संवत् को कैसे प्रामाणिक कहा जाय। किन्तु मैं कहता हूँ किसी विश्वजनीन संस्कृति के कर्णधार के साथ इस प्रकार का उपहसनीय प्रवाद फैलाना तो इतिहास-लेखकों को ही शोभा दे सकता है। हमारे देश के बच्चे-बच्चे की घुट्टी में विक्रम का नाम राम और कृष्ण की भाँति ही व्याप्त है। यदि किसी शिलालेख और ताम्रपत्र के अभाव में 'राम और कृष्ण' कल्पित नहीं माने जाते तो कोई कारण नहीं कि सम्राट् विक्रमादित्य एक 'कल्पित' या 'प्रक्षिप्त' व्यक्ति समझे जाँय।

(२) यह स्पष्ट है कि उपाधिधारी व्यक्ति की उपाधि किसी पूर्व व्यक्ति के नाम पर निर्भर है। 'कालिदास' के बाद ही 'आधुनिक कालिदास' की पदवी धारण की जाती है। 'सूर्य' को देख कर ही मेवाड़ के राणा को 'हिन्दु-सूर्य' कहा जाता है। आकाश के इन्दु के बाद ही 'भारतेन्दु' आदि उपाधियाँ भी इसी प्रवृत्ति की परिचायिका हैं। रोम का मशहूर बादशाह 'सीजर' जबर्दस्त लड़ाका था उसका पौत्र भी राज्याभिषिक्त होकर 'अगस्तस सीजर' बनने का अधिकारी

बना। इसी प्रकार यह अनिवार्य है कि 'विक्रमादित्य' उपाधि धारण करनेवाले के पूर्व एक मूल-पुरुष 'विक्रमादित्य' का रहना आवश्यक है।

हमें यह दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे देश के साथ-साथ हमारे इतिहास की भी प्रभुओं द्वारा घोर उपेक्षा की जा रही है। क्या आज 'मालव के उज्जैन, दशपुर, विदिशा आदि स्थानों की खुदाई विक्रम-अन्वेषण की दृष्टि से हो रही है—यदि नहीं तो हम 'शिलालेख' न होने की शिकायत करने के अधिकारी कैसे हो संकते हैं। कौन कह सकता है कि विक्रम-कालीन कोई चमत्कारपूर्ण गौरव-सामग्री मिट्टी के ढेर के नीचे सिसकियाँ ले रही हो—हमारे प्रकाशमय संसार में आने की प्रतीक्षा कर रही हो— हमारी 'शिकायतों' को सुन कर 'अकुलाहट' के मारे शिर धुन रही हो' !!

(४) कुछ प्रमाण भी न मिलता हो—ऐसी बात भी तो नहीं है। विक्रम की धवल कीर्ति-कथाओं से सैकड़ों पृष्ठ अंकित हैं, पुराणों और जैन अनुश्रुतियों में विक्रम के चरित्र का प्रवाह बह रहा है। पर आप तो उसे न मानने की ठान ठान चुके हैं—आप के हठ के सामने इस विशाल साहित्य का क्या वश ! यहाँ तो यह बात है।

'तेरा ही दिल न माने तो बातें हजार हैं'

आग्रह और अभिनिवेश से रहित होकर, आन्वीक्षिकी दृष्टि से यदि चिन्तन किया जाय तो ऐसे प्रमाण हैं जिनसे आदिम विक्रम की स्थिति की संगति ठीक हो जाती है और हार्नले आदि विदेशी विद्वानों की युक्तियों का तूफान शान्त पड़ जाता है।

प्रथम प्रमाण

'गाथा सप्तशती' नामक महाराष्ट्री प्राकृत 'हालसातवाहन' से विरचित और सर्वप्रसिद्ध है। यह 'हाल' डा० हरप्रसाद शास्त्री आदि

सुविश्रुत विद्वानो द्वारा ई० स० ६० के आसपास का है। इसके 'वत्सल' 'शाल' 'आढ्यराज' अनेक नाम थे। यह दक्षिण देश के 'पैठन' नगर का अधिपति था। इसकी सभा में पैशाचीभाषा के महाग्रन्थ 'बृहत्कथा' के निर्माता गुणाढ्य, कलाप व्याकरण के प्रणेता शर्ववर्मा आदि अनेक कला-पण्डित थे। इस सम्राट् के राज्य में प्राकृत का सुसंघटित प्रचार था[1]। इसी नरेश ने प्राकृत भाषा में चुने हुए मुक्तक-पद्य-रत्नों का एक महाकोष 'गाथासप्तशती' के नाम से प्रस्तुत कराया[2]। महाकवि बाण जैसे शब्द-रत्नों के वैकटिक (जौहरी) ने भी इस कोष की प्रशसा मुक्त-कण्ठ से की है[3]। उसी गाथासप्तशती के एक प्राकृत-पद्य का छाया-नुवाद यह है :—

'संवाहनसुखरसितेन ददता तव करे लक्षम्
चरणेन 'विक्रमादित्य —चरितमनुशिक्षितं तस्याः'

[५ शतक ६४ गाथा]

इसका भाव है उस (नायिका) के चरण ने नायक के द्वारा दबाये जाने पर उसके हाथ पर लाक्षा रग लगा कर विक्रमादित्य का

१—'के नासन्नाढ्यराजस्य काले प्राकृतभाषिणः'

— सरस्वतीकण्ठाभरण (भोज)

२—'एष कविनामाङ्कितगाथाप्रतिबद्धवर्धितायाम:
सप्तमशतकः समाप्तः शालिवाहनविरचितः 'कोषः' ॥

[गाथासप्तशती के अन्तिम प्राकृत-पद्य की संस्कृत-छाया]

३—अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः ।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः ॥—हर्षचरितम्

अनुकरण किया[1]। इसमें 'लक्ष' शब्द 'श्लिष्ट' है। उससे लाक्षा (रंग) और लक्ष (एक लाख रुपया) दोनों अर्थ निकलते हैं। निष्कर्ष यह है कि जैसे विक्रमादित्य किसी याचक के हाथ एक लाख देता है ऐसे ही नायिका के चरण ने नायक के हाथ में लाख का रंग लगा ही दिया। इस शुद्ध ऐतिहासिक गाथा से क्या यह स्पष्ट नहीं प्रतीत होता है कि शक्तिवाहन के पूर्व कोई सम्राट् विक्रमादित्य अपने दान-वीरता आदि गुणों से युक्त सर्वथा प्रसिद्ध था ?

द्वितीय प्रमाण

१०३ संवत् का एक महत्त्वपूर्ण लेख प्राप्त है। इसका संबन्ध खिस्त-धर्म के प्रचार से है। खिस्तियों के बारह प्रचारक बारह ओर गये। इनमें से टामस भारत में आया। वह किस राजा की सभा में किस समय आया इन सब बातों का विवरण इस समय ई० सन् ३री शताब्दी के एक 'ज्यू-ग्रन्थ' से ज्ञात हुआ है। इस ग्रन्थ के अनुसार पंजाब के पार्थेयन् घराने के गदाफेरिज राजा के दरबार में वह आया। इसी राजा का पूर्वोक्त लेख भी है। उस पर १०३ अंक के साथ २१वां राज्यारोहण वर्ष भी है। १०३ को शक-अब्द अगर माना जाय तो ई० स० १८१ वर्ष से २६ कम कर देने पर ई० स० १५५ शक वर्ष उसके राज्यारोहण का वर्ष आता है—जो इतिहास से मेल नहीं खाता। अतः डॉ० फ्लीट का कथन है कि इस १०३ को संवत्-वर्ष मान लिया जाय और यह संशोधन सिद्धान्तरूप में सर्वसम्मत है। १०३ में से ५७ कम कर देने से ई० स० २५वें वर्ष में गदाफेरिज का सिंहासना-

---

१—उक्त गाथा का मूलरूप इस प्रकार है।

'संवाहण सुहरस तोसिएण देंतेण तुहकरे लक्खं'
चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खिअं तिस्सा

रूढ़ होना निश्चित होता है। इस प्रकार इन अंकों का भ्रम सर्वथा ठीक बैठ जाता है तथा इससे दो बातें सूचित होती है :—

(१) प्रथम यह कि विक्रम-संवत् का प्रचार चतुर्थ शताब्दी के पश्चात् हुआ—यह निरर्थक अपवाद घोर प्रमाद-पूर्ण है।

(२) द्वितीय यह कि एक सम्राट् के लेख पर विक्रम-संवत् का उट्टंकन होने से विक्रमादित्य की 'चक्रवर्तिता' प्रमाणित होती है।

तृतीय प्रमाण।

काशी विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री ए० एस्० अल्टेकर को एक ताम्र-पत्र मिला है जो विक्रम-सवत् २२३ का है। यह मालव के किसी राजा का है। इसके पढ़ने से ज्ञात होता है कि इस राजा ने शकों को परास्त कर अपनी स्वाधीनता की रक्षा की थी। इस ताम्र-शासन में भी २२३ संवत् अंकित होने से यह सिद्ध हो जाता है कि चन्द्रगुप्त के अति-पूर्व ही यह संवत् पूर्णतया प्रचलित था। इस ताम्र-पत्र से 'चन्द्रगुप्त' के ही मौलि पर सर्वप्रथम विक्रमादित्य-मुकुट पहिनाने वालों की सारी मान्यतायें अपने आप खण्डित हो जाती हैं।

चतुर्थ प्रमाण

अभी लिखते लिखते एक आश्चर्यजनक घटना का संवाद मिला है जिससे विक्रम-गवेषणा के इतिहास का नया अध्याय आरम्भ हो गया। इस घटना से महान् इतिहासकार विन्सेन्ट स्मिथ की चलाई हुई प्रणाली अपने बीसों वर्षों के जीवन को तृण से भी अधिक निस्सारता के साथ समाप्त करती है। देश के बहुत से विशिष्ट विद्वानों की यह धारणा ही बन गई है कि 'चन्द्रगुप्त द्वितीय' विक्रमादित्य हैं—इनके पूर्व में कोई प्रमाण नहीं—परंतु पूर्वोक्त सभी प्रमाणों—विशेषतः
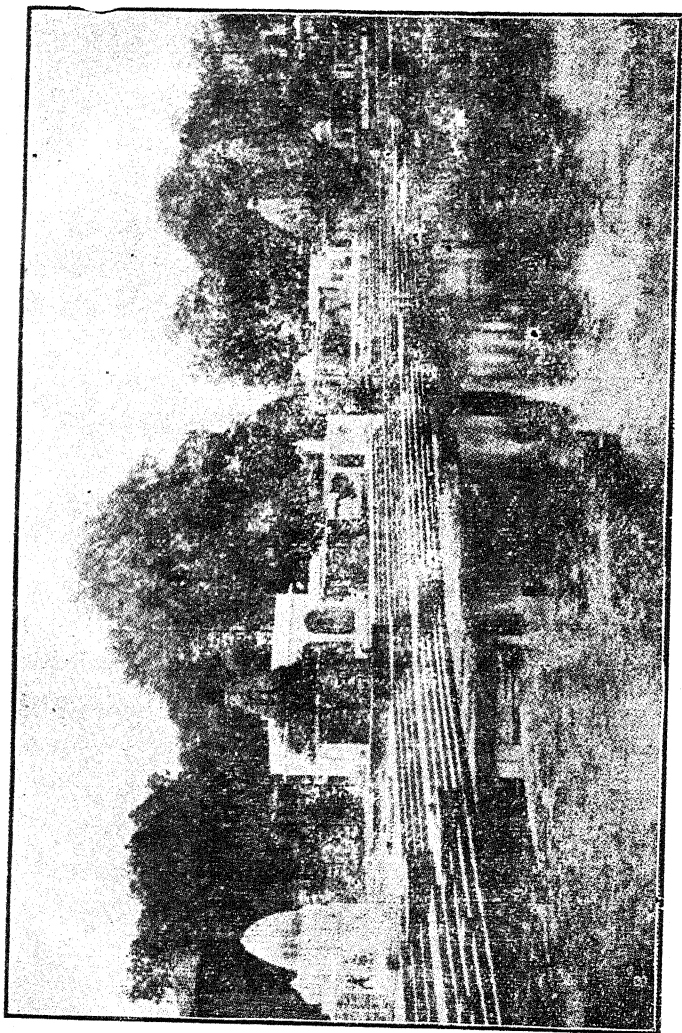
शिप्रा तट की मधुर छवि

तृतीय प्रमाण से इस 'दूषित वातावरण' का भ्रम या मन्देह भली भाँति खण्डित या निरस्त हो जाता है। अपितु सद्यःप्राप्त प्रमाण से तो यह भी सिद्ध हो रहा है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त के भी शताब्दियों पूर्व 'विक्रम' का अस्तित्व था — वह घटना इस प्रकार की है।

"होल्कर राज्य के भीखनगांव (नीमाड़) से ७ मील दूर पश्चिम में, वेदा नदी के पूर्वी तट पर, तथा खरगोन से १७ मील और नर्मदा से २४ मील दक्षिण में 'बमनाला' नाम के छोटे से गाँव में कुछ छात्रों को खेलते समय अध्यापकों की सहायता से २१ स्वर्ण के सिक्के और ११ तोले सोने का एक खण्ड भी उपलब्ध हुआ। नियमानुसार वस्तुयें इन्दौर खजाने के बाद वहां के नवरत्न मन्दिर (संग्रहालय) में लाई गईं। सग्रहालय के खोज-निरीक्षक पण्डितों ने परीक्षा करने के बाद मुद्राओं में तीन श्रेणियाँ बनाईं।

(१) सम्राट् समुद्रगुप्त की ८ मुद्रायें।
(२) चन्द्रगुप्त द्वितीय की ६ मुद्रायें।
(३) कुमारगुप्त प्रथम की ४ मुद्रायें।

आज तक समुद्रगुप्त के किसी भी सिक्के पर विक्रम-अङ्क की बात नहीं सुनी; गई पर इन सिक्कों में सप्तम सिक्के पर समुद्रगुप्त के साथ 'श्रीविक्रमः' अंकित है और दूसरी ओर कमलासना देवी की चित्रमुद्रा है और सामने सम्राट् के चित्र के साथ श्रीविक्रमः लिखा हुआ है। अतः इतिहासानुराग रखने वाले यह पहिली बार जान सकेंगे कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य (३७५ ई० से सन् ४१३ तक) के पूर्व सम्राट् समुद्रगुप्त (ई० स० ३३० से ३३५ तक) ने भी अपनी मुद्रा में विक्रम की उपाधि धारण की थी अर्थात् चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त ने लगभग ४५ साल पहिले ही अपने को विक्रम बना डाला और उन्हीं की देखा

देखी चन्द्रगुप्त ने भी 'विक्रम' की पदवी लगा कर अपने को गौरवान्वित किया। सबसे बड़ी बात इसमें यह जानी जा रही है कि इस उपाधि के ग्रहण में कोई रहस्य है और उसका एक मात्र आधार ई० स० पूर्व ५७ का वह स्वतन्त्र सम्राट् विक्रमादित्य ही है जो 'पुण्यैर्यशो लभ्यते' का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। कोई आश्चर्य नहीं कि आगे उज्जैन अथवा किसी अन्य मध्यभारतीय भूमि से स्वतन्त्र विक्रमादित्य की ही कोई सामग्री प्राप्त हो जाये और यह ऐतिहासिक विवाद 'तथ्य' के रूप में सदा के लिये परिणत हो और भारतभूमि का मान आकाश से अधिक सुन्दर उन्नत हो।[१] " इतने पर भी यदि कोई विक्रम का स्वतन्त्र अस्तित्व न स्वीकार करे तो उसे 'हठी' 'दुराग्रही' या और कुछ कहने की अपेक्षा सुजला सुफला शस्य-श्यामला महनीय-मालव-मही का मनहर-मधुर-दर्शन एक बार अवश्य करा देना चाहिये, संभव है उसका संस्कार शुद्ध होकर अन्तःकरण में यह विश्वास ला दे कि इसी महामहिमामयी मेदिनी-राजमहिषी ने अपनी कोख से सम्राट् विक्रमादित्य जैसे नर-रत्न को प्रसूत किया है।

इसी प्रकार की धांधली संवत् के विषय में स्वनामधन्य ऐतिहासिकों ने मचा रखी है; पर उसमें कुछ संग्रहणीय सार नहीं है। धौलपुर के चौहान चण्डमहासेन के प्राप्त शिलालेख के 'वसु नव अष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य' वाक्य को ही विक्रम-संवत् का सर्वप्रथम उल्लेख माना जाता है जो विक्रम संवत् के ८९८ वर्ष बीतने पर का है। परन्तु इसका खण्डन इसी अध्याय के 'द्वितीय प्रमाण' से

१—यह सारा प्रघट्टक हिन्दी के आधुनिक सर्वश्रेष्ठ मासिक 'विक्रम' के सितम्बर (१९४३) के सम्पादकीय स्तम्भ में प्रकाशित उसके विद्वान् सम्पादक की मार्मिक टिप्पणी के आधार पर लिया गया है।

ही स्पष्टतया हो जाता है। अतएव यह विचार सबसे उत्तम और युक्ति युक्त है कि मालव-राष्ट्र की सामूहिक विजय के सूचक के रूप में पूर्व में 'मालव संवत्' ही व्यवहृत होता था और समय पाकर सम्राट् विक्रमादित्य का नाम उसमें उनकी सम्मानित स्मृति में जोड़ दिया गया। विक्रम संवत् के उल्लेख तो इतने अधिक हैं कि उनके विस्तार को देखते हुये उनका प्रमाण देकर पाठकों के मन को बोझिल बनाना मुझे इष्ट नहीं मालूम होता।

इस सम्बन्ध की अब एक ही बात रह जाती है वह है विक्रम की वर्ष गणना कब से होती है। महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने ख्यातनामा ग्रन्थ 'भारतीय प्राचीन लिपि माला' में विस्तार के साथ इस विषय का विवेचन किया है। जिसका सार यह है—विक्रम संवत् का वर्षारम्भ कार्तिक शुक्ला प्रतिपद् से तथा शक-संवत् का प्रारम्भ चैत्र शुक्ला प्रतिपद् से है। हिन्दुस्तान के पंचाग शक संवत् के आधार पर बनते हैं अतः पंचागकर्त्ताओं ने अपनी सुविधा के लिये दोनों को चैत्र शुक्लाा प्रदिपद् से ही लिखना आरम्भ कर दिया जो आज की स्थिति को पहुँच गया है। ईसवी सन् की १२वीं शताब्दी तक के लेखों में कार्तिक शुक्ला प्रतिपद्[१] से वर्षारम्भ के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि मालवा में अभी भी कार्तिक शुक्ला प्रतिपद् से ही वर्षारम्भ माना जाता है और प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमा को उज्जैन में बड़ा भारी मेला लगता है। तथा इसी के आधार पर समग्र

---

१ इस बात का उल्लेख अन्यत्र भी विभिन्न रूप से आया है। अमरकोष की महेश्वर कृत 'अमरविवेक' टीका में 'हेमन्ताद्धि वत्सरारम्भः उक्तं च आदाय मार्गशीर्षाच्च द्वौ द्वौ मासावृतुर्यतः' ऐसा उल्लेख मिलता है।

एशिया और विश्व में कार्तिक शुक्ला प्रतिपद् को ही 'कालिदास-दिवस' मनाने की प्रथा उत्साहपूर्वक जारी हो रही है।

भारत के प्राप्त होने वाले संवत्सरों में इस विक्रम सवत् का क्रम पांचवा माना गया है। इसके पूर्व के संवत्सरों के नाम क्रमशः सप्तर्षि, कलियुग संवत् (ई० स० पूर्व ३१०२) वीरनिर्वाण (४७०) बुद्धनिर्वाण सवत् (५४४) मौर्यवंश संवत् (३२३) सेल्युकिडि संवत् (३१२) हैं। विक्रम्-संवत् के आगे-पीछे दर्जनो संवत् चले-चलाये गये। वे सभी आज 'पुरातत्व' के विषय बन गये हैं। परन्तु काल-देव के आक्रमण को तुच्छ बनाता हुआ 'विक्रम् सवत्' आज भी अपने तेजस्वी और लोकोत्तर निर्माता सम्राट् विक्रमादित्य के प्रताप की घोषणा करता हुआ-सा विश्व का अलंकार बना हुआ है।

विक्रम् का प्रजापालन

ऐसा कहा जाता है गन्धर्वसेन अपने उत्तराधिकारी भर्तृहरि को साम्राज्य-शासन देकर स्वयं वन चले गये। राजा भर्तृहरि के राज्य-दण्ड ग्रहण करने और एक आकस्मिक घटना-वश ज्ञानपूर्वक वैराग्य-धारण करने की बात विस्तृत रूप में हम पूर्व में लिख आये हैं। इन भर्तृहरि के अनन्तर सम्राट् विक्रमादित्य ही ने शासन-दण्ड सम्हाला[१]। सम्राट् विक्रमादित्य ने अतिशय मूल्यशाली अनेक रत्नों से जटित राज्य-सिंहासन पर शुभ मुहूर्त में आरोहण किया। अपने दान-सन्मान से उन्होंने अति शीघ्र प्रजा के मन पर अधिकार कर लिया। जैसे चम्पा के फूल में गन्ध होती है, जैसे मोतियों में चमक रहती है, जैसे ऊख के डंडे में रस भरा रहता है वैसे ही विक्रम में उदारता भरी हुई थी। वे निडर थे, दृढ़ निश्चयी थे। अपराधियों को प्रेम-पूर्वक क्षमा-दान देते थे, दुर्जनों पर नियन्त्रण रखते थे। उनके राज्य में सभी को सुख था। ब्राह्मण लोग नियम-पूर्वक सदाचार-पालन करते हुये वेद-शास्त्र का

१—भुक्त्वा भर्तृहरिस्तत्र योगारूढो वनं ययौ॥ १५॥
विक्रमादित्य एवास्य भुक्त्वा राज्यमकण्टकम्।
शतवर्षं मुदायुक्तो जगाम मरणे दिवम्॥ १६॥
[भविष्य पुराण, प्रतिसर्ग पर्व, खण्ड २ अध्याय २३]

अभ्यास करते थे ! सभी वर्णों के लोगो की परोपकार में वासना थी, झूठ से विरक्ति थी, लोभ से बैर था, पर-निन्दा से चिढ़ थी, जीव-दया पर अनुराग था। परमेश्वर में भक्ति थी, शरीर पर ममता नहीं थी, नित्यानित्य का विचार था, परलोक पर विश्वास था, की हुई बात के पालन करने में दृढ़ता थी, हृदय में उदारता थी और सत्य बोलने में प्रीति थी।

इन्हीं के राजत्व-काल में एशिया की भयंकर शकजाति ने अपना भीषण उपद्रव खड़ा किया। शक-सैनिक निर्दयता के अवतार और कूरूप थे। उनकी बड़ी-बड़ी काली आँखों में प्रलय की ज्वाला सुलगती थी। उनकी विशाल बाहों में रक्त से सनी हुई तलवारें चमका करती थीं। भारतीय धर्म-भीरु हिन्दू-जाति के ऊपर उन्होंने अत्याचारों का पहाड़-सा ढकेल दिया। दुधमुँहे बच्चे मौत के घाट उतारे जाते थे—स्त्रियों का सतीत्व पानी की तरह गन्दा होने में देरी नहीं लगाता था। शकों का शरीर पुष्ट, साहस भीषण और चेहरा एक दम लाल होता[1] था। अभक्ष्य मांस-पलाण्डु आदि के भोजन

१—ऐतिहासिकों द्वारा द्वितीय-तृतीय शताब्दी में माने जाने वाले वाग्भट्ट ने अपने अष्टाङ्ग संग्रहोत्तर स्थान के ४८वें अध्याय में शकों के 'पलाण्डु-प्रेम' पर रोचक और मार्मिक प्रकाश पर्याप्त रूप से डाला है—

"लशुनानन्तरं वायोः पलाण्डु परमौषधम्।
साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम्॥

यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिव निर्मितानाम्।
कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव॥"

अर्थात् लहसुन के बाद प्याज ही वात रोग की परम-औषधि है जिसमें मानों शक-राजाओं का प्राण ही रखा है।*

एवं मद्य आदि के पान से वे दुर्गन्धपूर्ण, घृणोत्पादक और मतवाले बने रहते थे। उनकी धाक से आर्य-जनता में 'त्राहि' 'त्राहि' की धूम मच गई। कहीं कोई किसी का रक्षक नहीं था। किसी की वीरता में यह दम नहीं था कि आगे बढ़कर शकों से लोहा लेता पराजित करना तो दूर की बात थी। उस समय सच्चे शूर-धर्मा क्षत्रिय की भांति महासाहसी सामन्त-शिरोमणि मालव-महेन्द्र अवन्तीराज विक्रम ने भगवान् महाकाल के जय-घोष से अपनी रण-रंगिणी सेना में धर्म-वलिवेदी पर चढ़ने के लिये उत्साह का समुद्र उमड़ा दिया। साहस का प्रभाव हो, ईश्वर की कृपा हो या और कुछ हो-उस महासमर में विजय-लक्ष्मी सम्राट् विक्रम के ही बांटे में आई और सारे के सारे शक-सैनिक या तलवार के घाट उतरे या देश की सीमा के बाहर खदेड़ दिये गये। समस्त संसार उनके इस अप्रतिम पौरुष से सन्नाटे में आगया—सब पर उनकी तलवार का जादू काम कर गया। त्रस्त और दलित दीन-हिन्दुओं को तो उनके रूप में भगवान् विष्णु ही मिल गये। सम्राट् विक्रम भी देशधर्म के विशुद्ध उपासक थे—अतः उन्होंने भी सच्चे हृदय से अपनी प्रकृति का परिचय देना प्रारम्भ किया। प्रतिदिन हजारों दीन-दुखी गौ ब्राह्मणों को स्वर्ण देने के बाद ही भोजन के लिये प्रस्तुत होते थे। विधवाओं और अनाथों की देख रेख स्वयं वेष बदल कर करते थे। प्रजा के लिये कठिन से कठिन काम करने को तैयार रहते थे।

स्वराज्य और परराज्य की भीतरी बातों को जानने के लिये गुप्त-चर सैनिकों का भी प्रबन्ध था। फौजदारी धाराएं कठोर थीं। सेना

*जिस पलाण्डु के भोजन से शक-ललनायें मानों सौन्दर्य-सार से निर्मित जान पड़ती हैं और उनके कपोलों की शोभा से लज्जित से होकर चन्द्रमा रसातल को चले (डूब) जाते हैं !!

तथा अङ्गरक्षकों को नियमित वेतन दिया जाता था किन्तु उन पर सम्राट् विक्रम का पूर्ण नियन्त्रण रहता था। उस समय के मुख्य शस्त्र
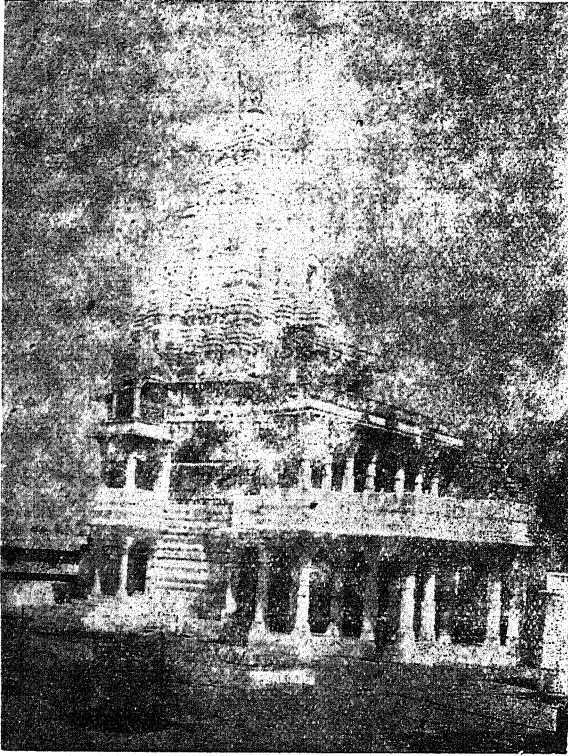
महाकालेश्वर मन्दिर

तीर, तलवार, भाला, गडांसा, फरसा, लाठी, गदा, कटार आदि थे।

प्रत्येक सैनिक को छाती पर कवच, अगुलियों में पतले लौह-तारों का बना हस्ताच्छादक, पंजे में ढाल, शिर पर लोहे का टोप आदि धारण करना आवश्यक था। बहुत से योद्धा शस्त्रों पर अपना नाम खुदवा लिया करते थे। जलयुद्ध की भी कलायें उनके सैनिकों को ज्ञात थीं।

साधु संन्यासी और विद्वान् ब्राह्मणों को सम्राट् विक्रम से मिलने में कोई रुकावट नहीं थी। शिकार मद्यपान और पर स्त्री संग से लोग दूर रहते थे। सामाजिक अवस्था और शिक्षा प्रणाली वैदिक काल की पद्धति पर थी। सम्राट् विक्रम के प्रोत्साहन से साहित्य, शिल्प, विज्ञान और गणित की चतुर्मुखी उन्नति हो रही थी। पहाड़ों की तलहटी में, नदियों के पवित्र तट पर या शान्त-एकान्त वन-भूमि मे आश्रय बनाये गये थे जिनमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य कुमार एक साथ विद्याध्ययन और ब्रह्मचर्य-पालन करते थे। उन आश्रमों की रक्षा का उपाय भी सम्राट् विक्रम के राज-कोष से ही होता था। प्रजा की आय के छठवे हिस्से को ही 'कर' के रूप में सम्राट् लेते थे जिसके फल स्वरूप सारी प्रजा उनकी छत्रच्छाया में सुखी जीवन को बिताती हुई उनके कुशल-मङ्गल का चिन्तन किया करती थी। संस्कृत विद्या का प्रचार अच्छी तरह से हुआ। नारियाँ भी संस्कृत में सम्भाषण करती थीं। प्रजा पूर्णरूप से स्वस्थ नीरोग रहती हुई मनुष्य की पूर्ण आयु का उपभोग करती थी।

ललित कलाओं में नाट्य, वाद्य और गायन का उत्कर्ष चरम-सीमा को पहुँच गया था। चित्र-कला पर लोगों का बहुत अनुराग था। गृहों की सजावट में रंग, चित्र, मूर्ति, पत्थर और ध्वजा-पताका झालर बन्दनवार आदि का उपयोग होता था। क्रय-विक्रय पर किसी प्रकार का टैक्स न होने से वाणिज्य-व्यवसाय की भी दशा समुन्नत थी। इस प्रकार हिन्दू धर्म की हिली हुई जड़ को सम्राट् विक्रम ने अपने

अलौकिक गुणों से अच्छी भाँति जमा कर 'राम-राज्य' को भारत भूमि में दूसरी बार लौटा-सा दिया था। उनके शौर्य का आतङ्क ऐसा था कि बलिष्ठ पुरुष निर्बल को तनिक भी नहीं सता सकता था। महाकवि 'कालिदास' ने मानों उनके इसी आतङ्क का वर्णन इस रूप में किया है—

'तस्मिन् महीं शासति वाणिनीनाँ निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्त्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय वस्त्रम् ॥

उस राजा के राज्य करते समय अभिसार के लिये चलने वाली रमणियों के राजपथ पर थक कर सो जाने पर उनका अञ्चल हटाने की हिम्मत कौन करता जब कि वायु को भी उनका वस्त्र हिला देने की सामर्थ्य नहीं थी !

कितने विक्रमादित्य हुए

सम्राट् विक्रमादित्य, सनातन धर्म के रक्षक गो-ब्राह्मण के उपासक और दीन-दुखियों के एक मात्र आधार थे। सारा राज-पाट भी देकर वे किसी परोपकार से पीछे नहीं हटते थे। उनके दान का कोई परिमाण न था। फलतः उनका पवित्र और देवोपम यश धरती के कोने कोने में छा गया। यही कारण है कि उनके बाद के होने वाले प्रतिष्ठाशाली नरेशों ने 'विक्रमादित्य' की पदवी धारण कर अपने को कृतार्थ किया। इस पदवी में जो लोकोपकारी भाव छिपा है उसकी पूर्ति दूसरे शब्द से हो ही नहीं पाती। विक्रमादित्य का नाम लेते ही उनका महान् पराक्रम, महती तेजस्विता और सर्वस्व दान देने का संकल्प आखों के सामने चित्र-सा खड़ा हो जाता था। इस दिव्य और उज्ज्वल नाम को ग्रहण करने को, कौन नरेश था जो इच्छुक न होता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो यही है कि ई० स० पूर्व ५७ से पूर्व किसी विक्रमादित्य का पता नहीं लगता और ईसवी प्रथम शताब्दी के बाद भरमार-सी लग जाती है जिसके कारण बहुत बड़े-बड़े ऐतिहासिकों के मस्तिष्क चक्कर काटने लगते हैं। इस अध्याय को पढ़ने से पाठकों को यह स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि नरेशों ने अपने शौर्य-औदार्य के प्रकाशनार्थ 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की न कि उनका नाम था—तब वे स्वतः प्रथम विक्रमादित्य के अस्तित्व को समझ लेंगे।

प्रथम 'विक्रम'-उपाधिधारी

सर्व-प्रथम विक्रमादित्य के गुण आबालवृद्ध' जनता के कण्ठहार बन गये थे। उस समय से जो भी नृपति प्रजा-पालन, दान, वीरता

आदि से लोक-प्रिय होता जनता उसे अपने समय का 'विक्रमादित्य' समझती थी। इस प्रकार के विक्रमादित्य का सर्वप्रथम वर्णन सुप्रख्यात चीन-देशीय परिव्राजक यात्री 'ह्यूयानसांग' के 'भारत-भ्रमण' में मिलता है। उसने लिखा है कि श्रावस्ती राज्य में एक विक्रमादित्य था जो प्रतिदिन ५००० सुवर्ण के सिक्कों का दान करता था! जब उसके मन्त्री ने राज्य-कोष को धन शून्य होने का भय दिखाया तो राजा और भी उग्र-वेग से दान करने लगा! उसके समय में मनोर्हित नाम के मठाधीश ने अपने नापित को एक दिन एक लाख स्वर्ण मुद्रायें दान में दीं इस बात का पता राजा को लग गया। राजा ने ईर्ष्या करने वाले 'मनोर्हित' का प्राणनाश करा दिया और अपने दान को निर्वाध रूप में जारी रखा।

द्वितीय

कहा जाता है, गुप्तवंशीय प्रथम चन्द्रगुप्त भी समर-धुरन्धर थे उन्होंने शकों को हराकर उत्तर भारत को अपने अधीन कर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। 'प्रथम शकारि-विक्रमादित्य' की भाँति इन्होंने भी सन् ३१६ में 'गुप्त संवत्' का प्रचलन किया। नेपाल देश की राजकुमारी (लिच्छिवी वंशोत्पन्ना) कुमार देवी के साथ इनका विवाह हुआ था। इन्हीं नेपालियो की सहायता से इन्होंने उत्तर भारत पर अखण्ड प्रभुता स्थापित की—अनुमान होता है कि इसी कार्य की कृतज्ञता प्रकट करने के लिये इनके सिक्कों पर 'कुमारदेवी' और 'लिच्छवयः' पद अंकित हैं। इनकी मृत्यु का समय ३२६ ई० है।

चिरकालीन अन्धकार को पार कर सन् ३२० ई० के छोर को चूमता हुआ मगध का पाटलिपुत्र अचानक गाढ़ी नींद को छोड़कर उठ बैठता है और उस जागरण के प्रधान केन्द्र विन्दु के रूप में यही सम्राट्

चन्द्रगुप्त हैं। इनकी उपाधि 'महाराजाधिराज' की थी। महरौली के लौह स्तम्भ पर इसी महासमर विजयी राजन्य-सिंह ने 'लिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे' अंकित करवा कर अपना तात्त्विक परिचय दिया है।

तृतीय

भारत की वीरता के प्रतिनिधि, सुवर्ण-युग के संस्थापक, परम शैव सम्राट् समुद्रगुप्त को कौन नहीं जानता! इनकी तलवार की धाक ने अपने समय के संसार को थर्रा दिया था। इन्होंने अपने पिता के स्थापित वीर-धर्म को अपनी शूरता की शान पर चढ़ाकर और भी चमका दिया। विश्व-विदित महापण्डित बसुबन्धु इनके मित्र और गुरु थे। इन्हीं के समय में बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग, पदार्थ संग्रह निर्माता प्रशस्तपाद, सांख्यकारिका के लेखक ईश्वर कृष्ण, साख्यतन्त्र के षष्ठितंत्र के प्रणेता वार्षगण्य आदि जैसे विद्वद्रत्नों को भारतमही ने उत्पन्न किया। कौशाम्बी के युद्ध में अच्युत, नागसेन और गणपति नाग की तलवारों को टुकड़े टुकड़े होते ही इनके भाग्य का सितारा चमचमा उठा। अपने सैनिकों के दुर्धर्ष बल पर इन्होंने एक विशाल भारत का महत्त्व पूर्ण स्थापन किया। इन्हीं के शासन-काल में 'कुमारजीवक' एक साहित्यक उद्देश लेकर चीन देश में गये और वहाँ ४०५ से ४१२ ई० तक ठहरे। उतने दिनों तक उन्होंने चीनियों को बौद्ध धर्म का नियम समूह लिखवाया। इन्हीं के आदर्शों से प्रभावित होकर तत्कालीन स्थापत्य शिल्पकारों ने पत्थरों पर लोहे की छेनियों से कोमल चोटें दे-दे कर देव-देवियों की मनोहर मूर्तियों का निर्माण किया। काव्य, साहित्य, मूर्ति, चित्र आदि को उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचाना इन्हीं का सुकृत कार्य था। संस्कृत-वाणी को उसका समुचित स्थान भी देने का श्रेय इन्हीं राजाधिराज को है। वह इनकी ही शक्तिशालिता थी, जो

नपुंसकत्व को पहुँची हुई बौद्ध-भावना के स्थान पर देश के समस्त क्षेत्रों में पौरुष के धनुष को टंकारा मार दिया। सारी जनता आत्म-विश्वास से ओत-प्रोत हो उठी। धर्म और राजनीति का गंगायमुना-सङ्गम शताब्दियों के बाद देखने में आया। स्त्री-समाज को उसका गौरवास्पद पद इन्हीं सम्राट् से मिला। कहते हैं समुद्रगुप्त अपनी महाराज्ञी दत्ता देवी का जितना सम्मान करते थे उतना किसी भी स्त्री का सम्मान कहीं कभी कोई न कर सका! इतिहास यह भी बतलाता है कि जितना स्वर्ण समुद्रगुप्त के अधिकार में आया था उतना शायद ही कभी उत्तर भारत को नसीब हुआ हो। इस सम्पदा के उद्गम का मुख्य हेतु दक्षिण भारत और उपनिवेशों पर समुद्रगुप्त का अधिकार होना ही था। समुद्रगुप्त महान् थे और उनका साम्राज्य भी महान् था। इन्होंने 'अश्वमेध' यज्ञ भी किया था जो इनके अनन्त पुण्य का द्योतक है[१]। इनका शासन काल ३२६ से ३७५ ई० तक है अभी अभी इनकी जो स्वर्ण मुद्रायें मिली हैं उनमें 'श्रीविक्रमः'' अंकित है जिससे इनके भी 'विक्रमादित्य' उपाधि धारण का पता लगता है।

१—मथुरा मे प्राप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय के शिलालेख में एक शब्द इस प्रकार का आया है जिसके समुद्रगुप्त का अश्वमेध यज्ञ करना प्रमाणित होता है। उस शिलालेख का कुछ अंश इस प्रकार का है—

Mathura ston Inscription chandrgupt II

'......... ....सर्वराजोच्छेत्तुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरु दधिसलिलास्वादितयशसो धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य कृतान्तपरशोर्न्याय्यागतकोटि-गो-हिरण्यप्रदस्य चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः .... महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छिविदौहित्रस्य महादेव्यां कुमार देव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराजसमुद्रगुप्तस्य पुत्रेण ....''

चतुर्थ

अब हम उस महान् पुरुष-रत्न की चर्चा करने जा रहे हैं जिसकी तेजस्विता की कोई उपमा नहीं, कहीं अन्त नहीं। ये महाराजाधिराज समुद्रगुप्त जैसे योग्य पिता के पुत्र सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय हैं। अपने 'स्वभुजपराक्रमैकबन्धु' 'दिग्विजयी' पिता की भाँति इन्होंने भी अपने धधकते अंगारों के समान सैनिकों की वीरता की आँच से प्रत्यन्त देशों को झुलसा दिया। अपनी चंचल और चोखी असिधारा से वाल्हीक को सोख कर साम्राज्य में एक भी काँटा नहीं रहने दिया। सारे आर्यावर्त में इस महावीर सेनानी ने एक नया जोश नयी उमंग और नया रूप भर दिया। इतिहास से ज्ञात होता है कि सम्राट् समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद रामगुप्त सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। रामगुप्त चन्द्रगुप्त का ज्येष्ठ सोदर था परन्तु इसमें राजोचित और वंशोचित उत्तम गुणों का अभाव था—फलतः राज्य में कुव्यवस्था का सूत्रपात हो

रेखाङ्कित पद से समाट् समुद्रगुप्त का अश्वमेध यज्ञ करना प्रामाणिक हो जाता है। इस शिलालेख से उनके सम्बन्ध की बहुत सी गौरवपूर्ण बातें मालूम होती हैं, जैसे कि वे समस्त अभिमानी राजाओं के मूलोच्छेदक थे, पृथिवी में उनकी प्रतिद्वन्द्विता करने का साहस किसी में नहीं था, चारो समुद्रों तक उनका नाम गूँज रहा था, वे कुबेर वरुण इन्द्र धर्मराज आदि देवों के तुल्य थे, क्रुद्धावस्था में वे शत्रु के लिये यम के फरसे की धार के समान थे, न्याय से प्राप्त करोड़ों गौओं और स्वर्ण मुद्राओं का उन्होंने दान किया, बहुत दिनों से बन्द 'अश्वमेधयज्ञ' उन्होंने ही किया, वे महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त, महादेवी कुमारदेवी के पुत्र थे, लिच्छिवियों के नाती थे और 'महाराजाधिराज' की पदवी से सम्बोधित होते थे!!

गया। यहाँ तक कि समुद्रगुप्त ने उत्तर-पश्चिम-सीमा के जिन शकों को अपने तपते हुये प्रचण्ड प्रताप से आगे बढ़ने नहीं दिया वे ही भीरु और कायर रामगुप्त के समय राज्य में उपद्रव मचाने लगे। अन्ततः लड़ाई में भी पराजित होने पर अपनी स्त्री ध्रुवदेवी को शकों को समर्पित कर देने की शर्त पर छूट सका। इस घटना का उल्लेख 'देवी-चन्द्रगुप्त' नामक ऐतिहासिक सस्कृत-नाटक में मिलता है। चन्द्रगुप्त को यह सुन अपने भाई की कापुरुषता पर घोर क्षोभ हो उठा और उसने स्वयं ध्रुवदेवी के वेश में शक-अधिपति के पास प्रयाण कर उनका वध कर दिया तथा पूर्व-निश्चित प्रस्तावानुसार अपनी रण-रंगिणी सेना के बल पर शक-सैनिकों को काटकर पृथिवी को पाट दिया। रणक्षेत्र से लौट कर उस वीर-शिरोमणि ने—

'खड्गेनाक्रम्य भुञ्जीत, वीरभोग्यावसुन्धरा'

के अनुसार रामगुप्त से छीनकर सारा साम्राज्य अपने अधिकार में किया। सुनते हैं रामगुप्त के निधन के पीछे उनकी सम्राज्ञी ध्रुवदेवी के साथ उन्होंने विवाह भी कर लिया था।

इनकी सुशिक्षित और शस्त्र-सन्नद्ध देशभक्त महासेना के रणबंके योद्धाओं ने बंगाल और पंजाब को पैरों तले रौंद डाला। सिन्ध के सातों मुखों को पार कर पारसीक-सस्सानी लड़ाकों को तलवारों की नोकों से भोंक कर सीमा के बाहर खदेड़ दिया। फिर हिन्दूकुश के साए से होते हुए वक्षु-(आक्सस) तीर के हूणों से लोहा लेकर बलख की रीढ़ को तोड़ दिया। उस समय लौहित्य से लेकर वक्षु तक का सारा प्रदेश चन्द्रगुप्त के चरणों तले लोटने लगा!

काशी में प्राप्त एक ऐतिहासिक पाषाण-अश्व की प्रतिमा पर 'चन्द्रगु' अक्षर अंकित है, जिससे बहुत से विद्वानों का अनुमान है कि इन्होंने

अश्वमेघयज्ञ भी किया था। साहित्य, धर्म और समाज में इन्होंने ही क्रान्तिमय परिवर्तन किया। राष्ट्रिय-चेतना से परिपूर्ण हिन्दू-साम्राज्य का चित्र सर्वप्रथम इन्होंने ही तैयार किया। प्राचीन क्षत्रप शकों से व्यवहृत शब्दों का घृणापूर्वक वहिष्कार कर राजकीय पदों की नामावली इन्होंने ही नये सिरे से तैयार करवाई। कुषाण नरेशों से प्रचालित 'गान्धारशैली' के स्थान पर सर्वाङ्ग-स्वदेशी वस्तु-चित्र-शिल्प का प्रचार इन्होंने ही कराया। जावा, सुमात्रा और बोर्नियो तक साम्राज्य-सीमा बढ़ा देना इन्हीं के हाथ का खेल था। अजन्ता की प्रसिद्ध मनोमोहक चित्रकारी का प्रमुख अंश इन्हीं के समय में सम्पन्न हुआ। इन्हीं के सुखद और समृद्ध शासन-काल को 'स्वर्णयुग' जैसा श्रवण रमणीय अभिराम-नाम मिला। गुप्त राजाओं में सब से पहले चांदी के सिक्के चलाये। सोने और तांबे के बड़े-बड़े भी सिक्के मिलते हैं। सिक्कों की आकृति की सुन्दरता और बनावट पर सब से पहिले इन्ही का ध्यान खिंचा। इनके सिक्कों में किसी-किसी पर कमल के पुष्प पर लक्ष्मी बैठी हुई है। शंख तथा छत्र का चिन्ह भी किसी-किसी पर है। किसी में सिंह तथा बाघ का शिकार करते हुये दिखलाई दे रहे हैं और किसी पर धनुष बाण लिये हुये वीररसावतार से प्रतीत होते हैं। इनके विभिन्न सिक्कों पर (१) 'देव श्री महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तः' (२) 'क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः' (३) 'नरेन्द्रचन्द्रः' (४) 'भुवि सिंहविक्रमः' (५) 'परमभागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यः (६) श्री गुप्तकालस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यस्य' इत्यादि पद मिलते हैं। जिससे इनके 'विक्रमादित्य' उपाधि धारण का ज्ञान होता है। इन्हे 'परमभट्टारक' भी कहा जाता था। इनका समय ३७५ से ४१३ ई० तक माना जाता है।

पञ्चम

इन्द्र के पुत्र जयन्त के समान सम्राट् चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त भी अप्रतिम तेजस्वी हुये। इनकी प्राप्त मुद्राओं पर 'अश्वमेधपराक्रमः' अंकित होने से इनके द्वारा भी अश्वमेध यज्ञ किये जाने की सूचना मिलती है। पिता-पितामह को ही भांति इन्होंने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की। 'महेन्द्रादित्य' 'परम भट्टारक' आदि दूसरे इनके अन्य अभिधान भी प्राप्त होते हैं। इन्होने ही उस समय के सर्वश्रेष्ठ 'विद्यापीठ नालन्दा विश्वविद्यालय' की स्थापना में सहयोग दिया था। जिसका अति मनोमोहक चित्र प्रायः पौने दो सौ वर्ष के बाद आनेवाले चीनी यात्री ह्यूयानसांग ने खींचा। उस समय उसके समान अन्य कहीं भी उतना विशाल विद्यापीठ दूसरा नहीं था। उसमें १५१० अपने-अपने विषय के चूडान्त अध्यापक थे। वेद, अथर्ववेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्साविद्या, सांख्यन्याय, योगशास्त्र, खगोलविद्या, बौद्ध-विद्या आदि विषयों के अध्यापन का सुप्रबन्ध था। हजारों में से एक छांट कर लिये जाने वाले छात्रों की संख्या १०,००० थी। सामान्य रूप से छोटे-छोटे बच्चों को वहाँ पाँच विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं। अपने पिता के सम्मानित नागार्जुन को कुमारगुप्त ने अध्यक्ष का पद दिया था। विद्यापीठ की सीमा में स्थान-स्थान पर छायादार वृक्षों के निकुंज बने हुये थे। जिनके नीचे बैठ कर छात्र शास्त्र-चर्चा किया करते थे। छात्रों के रहने के लिये छः मंजिलों वाले 'छात्रावास' बनाये गये थे, 'रत्नोदधि' नाम का एक मनोरम पुस्तक-संग्रह-भवन था जो नौ मंजिलों का था।

षष्ठ

बीस वर्ष की अवस्था में ही अपने पिता कुमारगुप्त के निष्कण्टक-साम्राज्य पर आँधी की भाँति टूट पड़ने वाले, रोम-साम्राज्य-ध्वंसक,

अपने घोड़ों की टाप की धमक से नगरों का फाटक तड़ातड़ बन्द करा देनेवाले, सामने पड़नेवाली सेना को तलवार से खरबूजा की तरह काटने वाले, पश्चिमी चीन के मंगोल के बर्बर स्वभाव वाले, हूणों के सरदार 'अत्तिल' की नकेल, तलवार की चोट से उत्तर की ओर फिरा कर बज्र की भाँति अतुल-पराक्रम दिखाकर युग-सम्राट् स्कन्दगुप्त ने अपने पिता के 'महेन्द्र' पद को सार्थक कर दिखाया और गुप्त-काल की महिमा को सूर्य को मध्याह्न की अवस्था में पहुँचा दिया। इतना ही नहीं, हूणों से निपटने के बाद ही उद्दण्ड पुष्यमित्रों को पंजाब में जा पकड़ा और खड्ग से उन्हें धूल में मिला दिया। इनके पराक्रम के समक्ष सभी शत्रु बुरी तौर से परास्त हुए। अल्प आयु में ही विधर्मियों के प्रचण्ड आघात से जनता का त्राण करने के कारण इन्हे 'विक्रमादित्य' की उपाधि 'रत्नं काञ्चनमन्वगात्' की दृष्टि से मिली। इनका राज्य-काल ४८० ई० तक माना जाता है।

सप्तम

सम्राट् स्कन्दगुप्त के परलोक-प्रयाण करते ही बहुत दिनों से रुका हुआ हूणों का अत्याचार एक दम उभड़ पड़ा। उनके नये खूखार शासक मिहिरकुल ने विप्लव-विद्रोह का तांता बांध दिया। वह मनुष्यों को जबर्दस्ती पकड़ कर पानी में डुबा-डुबा कर मारता था। मानव-रक्त से धरित्री को लाल कर देना उसकी मन चाही बात थी, अग्निदाह से नगरों-गांवों मकानों को धधक-धधक कर जलते देखने का उसे अभ्यास था। आदमियों को बेबसी से छटपटा कर मरते देखकर उसकी अन्तरात्मा को परम प्रसन्नता होती थी—इस संकट की घड़ी में मालवा के माण्डलिक नरेश यशोधर्मन् की बाहों ने तलवार संभाली और होठ फड़कने लगे! यशोधर्मन् ने एक-एक अत्याचारी को मृत्यु-मुख में झोंक दिया और मिहिरकुल को जीते-जी अपने सामने पकड़वा मँगाया।

हरसिद्धि देवी का मन्दिर

किन्तु उसकी डबडबायी आँखों से दीनतापूर्वक प्राण-भिक्षा माँगने पर आर्य-स्वभावानुसार छोड़ दिया। गुप्त-साम्राज्य की शोभा-हीन भूमि पर इन्होंने ही आर्य-धर्म की विजय-पताका फहराई। इनका राज्य-विस्तार ब्रह्मपुत्र नदी की पूर्वी घाटी से लेकर हिमालय की पश्चिमी घाटी तक था। इनकी तथाकथित शूरता के कारण प्रजा ने 'विक्रमादित्य' की संस्मरणीय पदवी से इन्हे मण्डित किया। इनका शासन-काल ईसवी सन् की छठी शताब्दी का पूर्वार्ध माना गया है।

अष्टम

इतिहासवेत्ता कहते हैं कि कन्नौज के राजा हर्षवर्द्धन ने भी विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की थी। गुप्त-साम्राज्य के टूट जाने से देश में अनेको खण्ड-राज्य स्थापित हो गये थे उनमें हर्षवर्द्धन का ही राज्य उल्लेखनीथ स्थिति को पहुंचा। अपने भाई के निहत होने पर इन्होने राज्यारोहण किया और अपने भ्रातृहन्ता तथा अन्य शत्रुओ से चुन-चुन कर प्रतिशोध चुकाया। कुछ दिनों के लिये इन्होंने एक अखण्ड साम्राज्य को भी स्थापित किया। पश्चिम में सतलज तक और दक्षिण में नर्मदा के उत्तरी किनारे तक इनकी राज्य-सीमा थी। पूर्व में ब्रह्मपुत्र तक इनका अधिकार था। कामरूप और बलभी के राजा इनकी सेना में निरन्तर रहते थे। इनकी सेना में ६०,००० हाथी और १,००,००० पैदल सिपाही थे। ५ वर्ष तक एक दिन भी किसी सैनिक को युद्ध-वेष उतारने का मौका न मिला। ये कुलक्रमागत शिव सूर्य और बुद्ध तीनों का पूजन करते थे—प्रतिदिन माणिक्य की थाली में लाल कमलों से अर्घ्य-प्रदान करते थे। इन्होंने प्रयाग में एक वृहत्सम्मेलन किया था जिसमें ५ लाख मनुष्यों की भीड़ थी और ७५ दिन तक रात-दिन साधु-संन्यासी, भिक्षु और ब्राह्मणों को दान दिया। इन्होंने अन्तिम

समय में चीन-सम्राट् से घनिष्ठता भी की और उसके पास एक दूत भेजा जो ६४३ ई० में लौटा था। इन्होंने (१) रत्नावली (२) नागानन्द (३) प्रियदर्शिका इन तीनों रचनाओं का निर्माण भी किया (१) अष्टश्रीमहाचैत्यस्तोत्रम् (२) सुप्रभातस्तोत्रम् (३) जातकमाला के भी निर्माता ये ही बतलाये जाते हैं। मधुवन के शिलालेख में भी इनके श्लोक उपलब्ध होते हैं—इन बातों से इनमें वीरता और विद्वत्ता दोनो का आकर्षण स्पष्ट झलकता है। इसी यशस्वी महाराजाधिराज के आश्रय में रह कर महाकवि 'बाण' ने विश्वभर के सहृदयों के कर्ण-पटल में 'कादम्बरी' की 'अतिद्वयी' मधु-धारा बहाई है। इनका राज्य-काल ६२६ से ६४१ ई० तक कहा जाता है।

नवम

सातवीं सदी में काश्मीर में विक्रमादित्य नामक राजा का उल्लेख मिलता है। इनके पिता का नाम रणादित्य था। इन्होंने 'विक्रमेश्वर' नामक शिवलिङ्ग की स्थापना की और ४२ वर्ष राज्य भोगा।

दशम

बादामी के प्रसिद्ध प्रतीच्य चालुक्यवंश में द्वितीय पुलकेशी के पुत्र 'प्रतीच्य चालुक्यवंश के प्रथम विक्रमादित्य' कहलाते हैं।

एकादशतम

प्रतीच्य चालुक्यराज विजयादित्य के पुत्र 'प्रतीच्य चालुक्यवंश के द्वितीय विक्रमादित्य' कहे जाते हैं। इन्होंने ७३३ से ७४७ तक बादामीपुर का राज्य किया। अपने पिता के शत्रु पल्लव-सम्राट् को पराजित किया। इन्होंने काञ्ची, चोल, पाण्ड्य, केरल आदि क्षेत्रों के राजाओं से संग्राम किया। हैहयवंश की राज-कन्याओं से इनका विवाह हुआ। इनकी छोटी रानी 'त्रैलोक्य-महादेवी' के गर्भ से उत्पन्न राजपुत्र कीर्तिवर्मा इनका उत्तराधिकारी हुआ।

त्रयोदश-चतुर्दशतम

प्राच्यचालुक्यवंश में भी दो 'विक्रमादित्यों' का पता लगता है।

पञ्चदशतम

९३० शकाब्द के मिले हुये एक ताम्रपत्र से पता लगा है कि प्रतीच्य चालुक्यवंश में एक और विक्रमादित्य हैं। जिनका यह ताम्र-शासनपत्र है।

षोडशतम

चालुक्यवंश में एक और प्रबल-पराक्रान्त राजा हुये हैं। इनका भी नाम विक्रमादित्य ही था। ये आहमल्ल के पुत्र सोमदेव के छोटे और जयसिंह के बड़े भाई थे। कल्याण के सिंहासन पर इन्होंने ५० वर्ष राज्य किया और ११७ शक-अब्द की फाल्गुन शुक्ल पंचमी को 'चालुक्यविक्रमवर्ष' नाम का नवीन संवत् चलाया। इन्हीं की राज-सभा से 'विद्यापति' की पदवी पाकर महाकवि 'विल्हण' ने 'विक्रमाङ्कदेव चरितम्' नाम का १८ सर्गों का अतिरुचिर और भाव-पूर्ण अमर-महाकाव्य लिखा। इधर तीन सहस्रवर्षों में इस प्रकार ऐतिहासिक महाकाव्य दूसरा नहीं है। 'विल्हण' का स्थान महाकवि 'कालिदास' के बाद ही रखने को जी चाहता है। ऐसी सरस, मसृण, मधुपाकवती रचना चिरसंचित पुण्य से ही सुलभ होती है। इनको अपनी जन्मभूमि काश्मीर पर कितना गर्व था उसकी थोड़ी सी झलक इस पद्य से जानी जा सकती है—

सहोदराः कुंकुमकेसराणां, भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टः, तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥

अर्थात् मेरे विचार से कविता-विलास और कुँकुँम-केशर ये दोनों सगे भाई हैं। क्यों कि काश्मीर के सिवा अन्यत्र इन दोनों का उद्भव मुझे देखने को नहीं मिला।

क्या मार्मिक उक्ति ! भारत-जननी के भालस्वरूप शारदा-देश (कश्मीर) के ही अङ्क में इस प्रकार के अमृत-वर्षी रससिद्ध-कवि मिल सकते हैं !

सप्तदश-अष्टादश-ऊनविंशतितम

दक्षिणापथ के अन्तर्गत गुत्तल नामक सामन्त राज्य में 'विक्रमादित्य' नाम के तीन राजाओं का वर्णन मिलता है।

विंशतितम

बगाल के अद्वितीय वीर प्रतापादित्य के पिता का नाम भी विक्रमादित्य था।

एकविंशतितम

मेवाड़ के वाप्पारावलवंशीय राणा संग्रामसिंह के अदूरदर्शी और योग्यताहीन पुत्र भी 'विक्रमादित्य' नामधारी थे—१५वीं शताब्दी में उन्होंने मेवाड़ के सिंहासन का सुख उठाया था।

इस प्रकार पाठक जान सकते हैं कि 'विक्रमादित्य' का नाम जादू की तरह असरदार हुआ। जिसकी तूती बोली उसी ने इस नाम पर अधिकार जमा लिया। किसी ने 'उपाधि' रूप में किसी ने नाम रूप इसे अपनाने में संकोच न किया। अवश्य ही कुछ लोगों के लिये यह उपाधि शोभा-प्रद हुई, पर अधिकांश ने इसे धारण कर अनधिकार चेष्टा का ही प्रदर्शन किया। लेकिन कालिदास की युक्ति के अनुसार जैसे 'महेश्वर' नाम सुनकर शंकर जी का बोध होता है, 'पुरुषोत्तम' से विष्णु और 'शतक्रतु' से इन्द्र का ही ज्ञान होता है, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य' नाम सुनते ही मालव के महाप्रतापी दीन-जन-रक्षक प्रथम-विक्रमादित्य का ही ध्यान हो जाता है। सूर्य दो नहीं हो सकते—चन्द्र दो नहीं हो सकते, उसी भाँति विक्रमादित्य भी दो नहीं हो सकते।

आजकल भी घरघर रामचन्द्र-कृष्णचन्द्र रोते चिल्लाते फिरते हैं। उनको 'राम और कृष्ण' का पद कौन देने की हिम्मत कर सकता है! वस्तुतः लोक तो 'गतानुगतिक न्याय' से चलता है। पाठकों को जान कर परम आश्चर्य और कौतूहल होगा कि 'मुग़लकाल' में भी एक 'विक्रमादित्य' हो गये हैं—वे भी जन्म के मुसलमान (!) उनका मनोरञ्जक निरूपण स्व० मौलाना शम्सुलउल्मा मुहम्मदहुसेन 'आजाद' ने अपने 'दरबारएअकबरी' ग्रन्थ में इस प्रकार किया है—

"........ ...जब हेमू तुगलकाबाद तक पहुँच गया, तब फिर उससे कब रहा जाता था। दूसरे ही दिन उसने दिल्ली में प्रवेश किया। दिल्ली भी विलक्षण स्थान है। ऐसा कौन है जो शासन का तो हौसला रखे और वहाँ पहुँच कर सिंहासन पर बैठने की आकांक्षा न रखे। उसने केवल आनन्दोत्सव और राजामहाराजा की उपाधि पर ही सन्तोष न किया किन्तु अपने नाम के साथ 'विक्रमादित्य' की उपाधि भी लगा ली और फिर सच है, जब दिल्ली जीती, तो विक्रमादित्य क्यों न होता !!"

वह कौन महापुरुष है जिसका नाम 'सोलहसौवर्षों' के बाद भी किसी विजेता पर जादू का असर रखता है। जो कुछ हो, हेमू का यह 'चारुचरित्र' भी मनोविज्ञान रसिकों के चित्तरञ्जन का उत्तम आधार रहा। 'पण्डितराजजगन्नाथ' की निम्नलिखित उक्ति यहाँ बिलकुल सार्थक है—

'नृत्यति पिनाकपाणौ नृत्यन्त्यन्येऽपि भूतवेताला' !!

—-- :०:——

विक्रम की लोक-कथायें

"शकवंश का नाश करने वाले मालव के 'विक्रमादित्य' के सम्बन्ध में कथानक में जो वर्णन है उसमें अविश्वास करने का कारण मैं नहीं देखता। बहुत से विद्वांन् इस तरह के वर्णन को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। क्योकि भारतीय अनुमति में उनकी धारणा अविश्वासपूर्ण होती है। कभी कभी वे भारतीय-शास्त्र की अपेक्षा विदेशी लेखकों के अत्यन्त आश्चर्य-जनक वर्णनो को भी अच्छा समझते हैं?"

—डाक्टर 'कोनो'

भारतीय कथा-किंवदन्तियों में 'विक्रमादित्य' एक महान् दानवीर, महान् परोपकारी के रूप में चित्रित है। उनके राज्य में कोई दुःखी नहीं था, अन्नवस्त्र सभी को सुलभ था। वे विद्याव्यसनी, सत्यनिष्ट, प्रजावत्सल और उदार थे। उनके सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ऐसी सुनने को मिलती हैं, जो न तो मनुष्य से हो सकती हैं और न जिनका कहीं आधार मिलता है। इससे विक्रमादित्य के ऊपर दैवी विश्वास करने वाली जनरुचि का पता लगता है। पाठकों के सामने कुछ ऐसी कहानियाँ लिखी जाती हैं जिनका आधार संस्कृत की प्राचीन कथाओं में है। संस्कृत की लोकोक्ति है 'न ह्यमूला जनश्रुतिः'.(जन-श्रुति भी एक—दम निस्सार नहीं होती) के अनुकार पाठकों का मनोरंजन तो होगा ही, सम्भव है कुछ सार भी निकल आवे।

१

एक बार सम्राट् विक्रमादित्य ने 'सर्वस्वदानयज्ञ' करने का विचार किया। शिल्पी लोगों से यज्ञ के लिये एक अति सुन्दर मण्डप बनवाया-

और देवता, मुनि, गन्धर्व, यक्ष, सिद्ध आदि को निमन्त्रण दिया। उसी अवसर पर समुद्रदेव को बुलाने के लिये एक ब्राह्मण को भेजा। उस ब्राह्मण ने समुद्रतट पर जाकर गन्धपुष्प आदि सोलह प्रकार से पूजा करके समुद्र से प्रार्थना की "हे समुद्रदेव! राजा 'विक्रमादित्य' यज्ञ कर रहे हैं? उन्होंने तुम्हे बुलाने के लिये मुझे भेजा है।—जब समुद्र से कुछ उत्तर न मिला तो वह ब्राह्मण उज्जैन को लौटने लगा। तब तक मार्ग में एक तेजस्वी ब्राह्मण का शरीर धारणकर समुद्रदेव उसके पास आये और बोले हे ब्राह्मण! 'विक्रमादित्य' ने तुम्हारे द्वारा मुझे निमन्त्रण भेजा, इतने ही से मेरा बहुत आदर हो गया किन्तु मेरी ओर से ये चार रत्न लेते जाओ। इन्हे 'विक्रमादित्य' को देकर कह देना कि पहले रत्न से इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती हैं। दूसरे से अमृत के समान मधुरभोजन मिलता है। तीसरे से तुरन्त 'चतुरगिणी' सेना तैयार हो जाती है। चौथे से दिव्य अलंकार बनते हैं।— तब समुद्र से उन रत्नों को लेकर ब्राह्मण जिस समय उज्जैन में पहुँचा उस समय यज्ञ समाप्त कर विक्रमादित्य याचकों को दान कर संतुष्ट कर रहे थे। उसी बीच ब्राह्मण ने समुद्र के दिये हुए चारों रत्न को उनका फल कह कर सम्राट् के हाथ पर धर दिया। सम्राट् 'विक्रमादित्य' ने कहा, हे ब्राह्मण! दक्षिणा के समय दान द्वारा मैंने सब विप्रों को प्रसन्न किया किन्तु तुम उस समय अनुपस्थित थे। अब तुम्हारी दक्षिणा यही है कि इन रत्नों में से अपनी पसन्द के माफिक एक रत्न ले लो। ब्राह्मण ने कहा अपने घर वालों की सम्मति लेकर तब लूँगा। सम्राट् ने कहा यही सही। ब्राह्मण ने घर आकर सबको बुला कर सलाह ली। पुत्र ने 'चतुरंगिणीसेना' तैयार करने वाले रत्न लेने की इच्छा प्रकट की। भार्या ने अमृत-तुल्य भोजन देने वाले रत्न की चाहना की। पुत्रवधू ने बहुमूल्य अलंकार देनेवाले रत्न को लेने का प्रस्ताव किया। ब्राह्मण कोई निर्णय न कर

सका। अन्त में जाकर सम्राट् से ही उसने अपने लायक रत्न देने की प्रार्थना की। सम्राट् विक्रमादित्य ने सब बात सुन कर उन चारो रत्नों को ब्राह्मण को सौंप दिया।

२

सम्राट् विक्रमादित्य के मन्त्रियों में से एक का नाम 'बुद्धिसिन्धु' था। उसको अनर्गल नाम का पुत्र था। अनर्गल आरामतलबी से जिन्दगी बिताने लगा। पढ़नेलिखने की ओर उसका तनिक भी ध्यान नहीं था। एक बार पिता के बहुत डाटने-डपटने पर पश्चात्ताप के साथ देशान्तर में जाकर कुछ वर्षों में विद्वान् बन कर उज्जयिनी को लौटते हुये मार्ग में एक देवमन्दिर और मनोहर-सरोवर देख कर थकावट के मारे वहीं बैठ गया। उसके बैठते ही सन्ध्याकाल होने लगा—सूर्य डूब गये। अनर्गल को वहीं तक जाना पड़ा। रात में अचानक उसकी आंख खुली और उसने देखा कि बीच सरोवर से आठ सुन्दरतरुणियां निकली और नृत्य, गान, वाद्य, से मन्दिर के देवता को प्रसन्न कर उनसे प्रसाद प्राप्त किया। चलते हुये उन सब की दृष्टि 'अनर्गल' पर भी पड़ी—उन सब के लिवा चलने पर भी डूबने के डर से अनर्गल ने पानी में पैर ही नहीं रखा और वे आठों तरुणिया सरोवर में अन्तर्ध्यान हो गईं। प्रातःकाल अनर्गल उज्जयिनी में अपने घर पहुंचा और सम्राट् विक्रम के दरबार में जा कर रात की आश्चर्यजनक घटना को सुनाया। सम्राट् ने उससे उस स्थान का पता लेकर वहां पहुंच गये और रात में सारी घटना को अपनी आंखों से देख लिया। उन स्त्रियों की दृष्टि में सम्राट् भी पड़ गये और उनके साथ चलने का आग्रह करने पर ये उनके साथ चल पड़े। स्त्रियों ने उन्हें पाताल लोक में ले जाकर एक सिंहासन पर बैठा कर उनकी आरती उतारी। उन स्त्रियों ने कहा

हे राजन् ! हम सब तुम्हारी सेवा करेंगी—यहाँ का यह सब राजपाट तुम्हारा है। सम्राट्विक्रम ने कहा, हे देवियों ! मैं केवल कौतुहल-वश यहाँ चला आया था अब मैं अपने राज्य में जाना चाहता हूँ और यह जानना चाहता हूँ कि आप लोग कौन हैं ? स्त्रियों ने उत्तर दिया हे राजन् ! हम आठों स्त्रिया आठ सिद्धियां हैं। हम लोगों का नाम क्रमशः अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, कामना, महिमा, ईशिता, वशिता, तथा कामावसायिता है। कहो ?' तुम्हारी कौन सी इच्छा हम पूर्ण करें। सम्राट् ने फिर उनसे आठों सिद्धियों को प्राप्त कर उज्जयिनी की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में एक ब्राह्मण ने उनके सामने आकर इस प्रकार आशीर्वाद दिया।

'उषितो नाभिकमले हरेर्यश्चतुराननः।
स पातु सततं युष्मान् वेदानामादिपाठकः॥'

अर्थात् भगवान् विष्णु के नाभि कमल में निवास करने वाले, चारों वेदों के आदिम ज्ञाता, चार मुख वाले ब्रह्मा आप की रक्षा करे।

सम्राट् विक्रमादित्य ने इस श्लोक को सुनते ही उन आठों सिद्धियों ब्राह्मण के हवाले कर दिया।

३

एक बार सम्राट् 'विक्रमादित्य' बहुत दिन इधरउधर घूमने के बाद उज्जयिनी में पधारे। नगर निवासियों ने इस उपलक्ष्य में उत्साह पूर्वक सजावट की। सम्राट् ने सुगन्धित जल से स्नान कर, चन्दन लगा कर, बहुमूल्य रेशमी वस्त्र पहन कर, देव-पूजा कर, ब्राह्मण-दीन-अन्ध-बधिर-लूला-लँगड़ा-अनाथ आदि को नाना प्रकार के दान से तृप्त किया। फिर परिवार के साथ भोजन से निवृत होकर राज-दरबार किया। सन्ध्याकाल होने पर नित्यकर्म से निवृत्त होकर भोजन के बाद चन्द्रमा

किरणों के समान सफेद गलीचे से सुसज्जित और कुन्द-मल्लिका-कमल के फूलों मे बिछे हुये पर्यङ्क पर शयन किया। रात्रि के अन्तिम प्रहर में उन्होंने अपने को महिष पर चढ़ कर दक्षिण की ओर जाते हुए देखा। इस दुःस्वप्न से चौंक कर वे जग उठे और फिर सो न सके। प्रातःकाल दैवज्ञ-ब्राह्मणों को बुलाकर रात के दुःस्वप्न को कहा। दैवज्ञों ने कहा हे राजन् स्वप्न शुभ और अशुभ दो प्रकार के होते हैं। हाथी, प्रासाद पर चढ़ना, रोदन, मरण और छत्र, चामर, समुद्र, ब्राह्मण, गंगा, पतिव्रता, शंख, सुवर्ण आदि का दर्शन शुभ होता है और भैंसे, गदहे पर सवारी करना, कांटेदार वृक्षों पर चढ़ना, भस्म, कपास, धूम्र, बाघ, साँप, सूअर, वानर आदि का देखना अशुभ होता है। तो आपने घोर अशुभ स्वप्न देखा है। शास्त्र में लिखा है—

'खरोष्ट्र-महिष-व्याघ्रान्, स्वप्ने यस्त्वधिरोहति।
षण्मासाभ्यन्तरे तस्य, मृत्युर्भवति निश्चितम्॥'

गदहा ऊँट भैंसा और बाघ पर जो स्वप्न में सवारी करता है उसकी मृत्यु छः महीने के भीतर हो जायगी यह निश्चित है। सम्राट् विक्रमादित्य के पूछने पर दुःस्वप्न के नाश के लिये दैवज्ञों ने निम्न-लिखित उपाय बताया। हे राजन्! एक बड़ा यज्ञ करिये, बहुमूल्य वस्त्र और अलंकार ब्राह्मणों को दीजिये। इष्टदेव का अभिषेक कराकर नवीन वस्त्र पहिना कर नव रत्नों से उनकी पूजा कीजिये, धान, नमक, गुड़, सोना, तिल, कपास, घृत, रत्न, चाँदी, चीनी का दान करिये। इस प्रकार करने से इस दुःस्वप्न का नाश हो जायगा। सम्राट् ने वैसा ही किया।

४

एक बार सम्राट् विक्रमादित्य की राज-सभा में एक ज्योतिषी ने आकर आशीर्वाद दिया। सम्राट् के द्वारा वर्ष का फल पूछने पर

ज्योतिर्विद् ने कहा हे राजन्! इस वर्ष राजा सूर्य हैं, मन्त्री मंगल हैं और वे ही मेघों के भी अधिपति हैं, शनि रोहिणी के शकट का अतिक्रमण करेगा अतः इस वर्ष वृष्टि होगी ही नहीं। शास्त्र में लिखा है—

'यदा भिनन्ति मन्दोऽयं, रोहिण्याः शकटं तदा।
वर्षाणि द्वादशानीह, वारिवाहो न वर्षति॥'

जब शनिग्रह रोहिणी नक्षत्र को अतिक्रान्त करता है तब १२ वर्ष तक बादल बरसता ही नहीं। यह सुन कर प्रजा पर आने वाली विपत्ति का ध्यान कर सम्राट् विक्रमादित्य परम-दुःखित हो उठे। अनावृष्टि के निवारण का उपाय पूछने पर दैवज्ञ ब्राह्मण ने कहा—समारोह-पूर्वक ग्रह-सम्बन्धी होम करने पर सुख-वृद्धि होगी। सम्राट् विक्रमादित्य ने फिर बड़ी विधि से होम कराया, दान-मान से सब को सन्तुष्ट किया पर वृष्टि के बिलकुल न होने से सभी लोग अकाल-पीड़ित होकर क्लेश को प्राप्त होने लगे। इस बात से दुःखित होकर सम्राट् एक बार चिन्तापूर्वक बैठे थे कि उन्हें आकाशवाणी सुनाई पड़ी कि, हे राजन्! गढ़े के सामने वाले मन्दिर की देवी को जब तक ३२ राज लक्षणों से युक्त पुरुष की बलि न दोगे तब तक वृष्टि नहीं होगी। यह सुनते ही सम्राट् अपने को ३२ राज-लक्षणों से युक्त समझ कर खड्ग लेकर अपना ही शिर काटने को उद्यत हो गये—तलवार के उठाते ही देवी ने साक्षात् प्रकट होकर सम्राट् का हाथ पकड़ लिया और कहा हे राजन्! मैं तुम्हारे साहस पर प्रसन्न हूँ—जाओ, तुम्हारे साम्राज्य में पूर्ण वृष्टि होगी। सम्राट् के मन्दिर से निकलते ही सारे आकाश में बादलों के दल के दल उमड़ उठे, उनकी गड़गड़ाहट सुनकर चारों ओर मयूर नाचने लगे, चातक 'पीउ' 'पीउ' की पुकार करने लगे, बिजली चमचमा उठी, और फिर इस प्रकार की घनघोर वर्षा हुई कि देखते-देखते नदी-तालाब-झरने जल-धारा से लहराने लगे। पृथिवी हरी-

भरी हो गई—लोगों का दुख-दारिद्रय दूर भाग गया। 'सम्राट् की कीर्ति चारों ओर फैल गई।

५

एक बार सम्राट् विक्रमादित्य राजसभा में सिंहासन पर आसीन थे। उस समय एक विद्वान् ने आकर आशीर्वाद दिया और कहा—

'यथा सरति जीमूते, चातको ग्रीष्मपीडितः।
तृषितो याचते तोयं, तथाऽहं तव दर्शनात्॥'

जैसे गर्मी से व्याकुल चातक-पक्षी बादलों को देख कर अपनी तृष्णा बुझाना चाहता है—ऐसे ही हे राजन्! मैं तुमसे कुछ याचना करने आया हूँ।

'कर्पूरादपि कैरवादपि दलत्कुन्दादपि स्वर्णदीः—
कल्लोलादपि राजतादपि चलत्कान्तापाङ्गान्तादपि।
निःशेषञ्च यथा कलङ्करहितात् शीतांशुखण्डादपि,
श्वेताभिस्तव कीर्तिभिर्धवलिता सप्तार्णवा मेदिनी॥'

हे राजन्! कपूर, कैरव, खिले हुये कुन्द, आकाश गंगा के फेन, चाँदी, कामिनी के चंचल-कटाक्ष और कलंक-रहित पूर्ण चन्द्र से भी उज्ज्वल तुम्हारी कीर्ति से यह सप्तसमुद्रवती पृथ्वी उज्ज्वल सी सोह रही है।

इस प्रकार की स्तुति सुन कर सम्राट् विक्रमादित्य ने कोषाधीश को आज्ञा दी कि खजाना खोल कर इस ब्राह्मण को वहाँ पहुँचा दो—इन्हें जितनी और जिन रत्नों की इच्छा हो, ले जाने दो। ब्राह्मण ने अपने बल के अनुसार भहहि रत्नों की गठरी बाँध कर सम्राट् के पास गया और बोला—हे राजन्! तुम्हारे दान के सामने कुबेर को कौन कहे ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी प्रभाहीन हैं—

'वेधा वेदायनाविष्टो, गोविन्दोऽपिगदाधराः।
शम्भुः शूली विषादी च, भवान् केनोपमीयते ॥१'

आप सब से श्रेष्ठ हैं—आप को ब्रह्मा की आयु मिले।

चार मित्र थे। जिनमें एक बढ़ई का पुत्र, दूसरा सोनार का पुत्र, तीसरा बजाज का पुत्र और चौथा सेन्दुरिया का पुत्र था। चारों मित्रों के माता-पिता जीवित थे। एक दिन उन लोगों ने विचार किया—माता-पिता के जीवनकाल में ही देशाटन कर लें, अन्यथा घर-गृहस्थी के झंझटों में फँस जाने पर अवकाश नहीं मिलेगा। इस विचार को कार्यान्वित करने के लिये उन लोगों ने अपने-अपने माता-पिता से इसकी अनुमति ली। प्रस्थान की तिथि नियत की गई। निश्चित तिथि को चारों मित्र उपयोगी सामग्रियों से सुसज्जित होकर देश-भ्रमण के लिये घर से निकल पड़े। उन लोगों ने विभिन्न प्रान्तों के नगरों तथा ग्रामों की यात्रा की तथा वहाँ के निवासियों के जीवन, रीति-रिवाज की जानकारी प्राप्त की। उन्हे मार्ग में हरियालियों से पूर्ण क्षेत्र, वेगवती नदियाँ तथा दुर्गम पहाड़ आदि मिले, जिनकी प्राकृतिक छटा का उन लोगों ने निरीक्षण किया। इसी प्रकार भ्रमण करते हुये मार्ग में उन्हें एक बीहड़ वन मिला। सूर्यास्त हो चुका था। अतः वे एक घने पत्ते वाले वृक्ष के नीचे बैठ गये और वहीं रात बिताने लगे।

भोजन के बाद चारों मित्रों ने सोचा—इस भयानक वन में चार पहर रात्रि व्यतीत करनी है। अच्छा होता कि हममें से प्रत्येक क्रमशः एक-एक पहर जगकर शेष सोये हुये व्यक्तियों की रखवाली करता। यह बात स्थिर रही और उसके अनुसार प्रथम पहर में तीन मित्र

१ इस प्रकार की अन्य कथाओं के लिये 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' देखनी चाहिये।

सो गये और बढ़ई का पुत्र जाग कर उनकी रखवाली करने लगा। लेटे रहने से नींद आजाने का भय था। अतः उसने सोचा, जी बहलाने के लिये कोई काम करूं। इतने में उसकी दृष्टि एक सूखी लकड़ी पर पड़ी। उसने अपनी झोली से औज़ारों को निकाला और उस लकड़ी को नारी की एक सुन्दर प्रतिमा के रूप में गढ़ डाला। इसी कार्य में उसकी बारी का एक पहर बीत गया। तत्पश्चात् उसने बजाज के पुत्र को जगा दिया और वह सो गया। बजाज के पुत्र को भी रात्रि का एक पहर व्यतीत करना था। बढ़ई के पुत्र द्वारा निर्मित नारी की प्रतिमा को देख कर उसने सोचा, यह प्रतिमा तो बड़ी सुन्दर है; किन्तु विवस्त्र होने के कारण अच्छी नहीं लग रही है। अतः, उसने वस्त्रों की गठरी खोली, चुन-चुन कर सुन्दर वस्त्र निकाले और उस प्रतिमा को वस्त्रों से सजाया। प्रतिमा को सजाने में उसे एक पहर लग गया और उसका पहरा देने का समय समाप्त हो गया। अब सोनार के पुत्र को जगाकर वह सो गया। सोनार के पुत्र ने प्रतिमा को देख कर सोचा, प्रतिमा तो सुन्दर बनी है और इसका परिधान भी बड़ा सुन्दर है, किन्तु भूषणों के अभाव में यह अच्छी नहीं लग रही है। उसने सोने के आभूषणों को निकाला और उस प्रतिमा को पहनाना आरम्भ किया। जब प्रतिमा पूरी तरह से सज गई तो सोनार के पुत्र को संतोष हुआ। इतने में एक पहर की उसकी अवधि समाप्त हो गई। सेन्दुरिये के पुत्र को जगाकर वह सो गया। सेन्दुरिये के पुत्र ने देखा कि वस्त्राभूषणों से विभूषित होने पर भी यह नारी प्रतिमा सौभाग्य-चिन्ह सिन्दूर के बिना शोभा नहीं पारही है; इसलिये उसने उस प्रतिमा को सिन्दूर का टीका लगा दिया। सेन्दुरिया के पुत्र को मन बहलाने के लिये वहाँ कोई साधन नहीं था।

अतः, थोड़ी देर बाद उसे नींद आगई। संयोगवश उसी वन-मार्ग

से शिव-पार्वती संसार-भ्रमण कर कैलाश वापस आरहे थे। इतने में पार्वती की दृष्टि उस सर्वाङ्ग सुन्दर प्रतिमा पर पड़ी। उन्होंने शिव से कहा—कितनी सुन्दर है यह प्रतिमा ! यदि इसमें प्राण होता ! यह सुन कर शिव जी ने अपने बायें हाथ की कनिष्ठा अगुली उस प्रतिमा के मुख में डाल दी। भगवान् शिव की कृपा से वह काष्ट-प्रतिमा एक सर्वाङ्ग सुन्दरी मानवी मे परिणत हो गई। मनुष्य रूप धारण करते ही प्रतिमा ने शिव-पार्वती को प्रणाम किया। उसे आशीर्वाद देकर शिव-पार्वती अन्तर्हित हो गये।

प्रातःकाल मित्रों की नींद टूटी। उनमें से प्रत्येक व्यक्ति ने उस स्त्री से विवाह करने की अपनी इच्छा प्रकट की और इसके लिये आपस में झगड़ने लगे। अन्त में चारो मित्र राजा विक्रमादित्य के पास पहुँचे और अपना झगड़ा न्यायार्थ उनके सन्मुख उपस्थित किया। उनकी बातें सुन कर राजा विक्रमादित्य ने निर्णय दिया— बढ़ई के पुत्र ने प्रतिमा का निर्माण किया था। अतः वह स्त्री का पिता हुआ। बजाज के पुत्र ने उसे वस्त्रो से ढक कर उसकी लाज रखी थी, अतः वह उसका श्वसुर हुआ। सोनार के पुत्र ने उसे आभूषण पहनाया था, अतः वह उसका भूसूर हुआ; और सेन्दुरिये के पुत्र ने उसके ललाट में सिन्दूर डाला था, अत: वह उसका पति हुआ। राजा विक्रमादित्य के ऐसे न्याय से चारों मित्र सतुष्ट होकर उनकी प्रशंसा करते हुये स्वदेश लौट गये।

विक्रम के नवरत्न

अप्यर्णवस्य पुरुषः प्रतरन् कदाचित्,
आसादयेदनिलवेगवशेन पारम्।
न त्वस्य कालपुरुषाख्यमहार्णवस्य,
गच्छेत्कदाचिदनृषिर्मनसाऽपि पारम्॥

—बृहत्संहिता।

अर्थात् यह सम्भव है कि कोई मनुष्य अपार-अथाह समुद्र में पड़ कर हवा के वेग से कदाचित् उस पार पहुंच जाये। परन्तु यह तो सर्वथा असम्भव है कि कालरूपी समुद्र के रहस्य को कोई मनुष्य जान ले हां ऋषियों की बात दूसरी है।

इस समय मेरी स्थिति ठीक यही है। मेरे पास कोई भी ऐसा साधन नहीं कि सम्राट् विक्रमादित्य के नव-रत्नों का तथ्यपूर्ण विवेचन करूं। केवल जन-वाद पर कितना भरोसा किया जाय। किन्तु प्राचीन अर्वाचीन अनुसन्धान-रसिकों के अनुभव से कुछ लाभ उठा कर कुछ प्रामाणिक विवरण नीचे दिया जा रहा है।

विक्रम के नवरत्नों की कल्पना का मूल आधार यह श्लोक है—

"धन्वन्तरि-क्षपणकामरसिंह-शंकु-वेतालभट्ट-घटकर्पर-कालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां, रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥"

अर्थात् सम्राट् विक्रमादित्य की राजसभा में (१) धन्वन्तरि (वैद्य) (२) क्षपणक (बौद्ध या जैन साधु) (३) अमरसिंह (कोष-निर्माता) (४) शंकु (आलंकारिक) (५) बेतालभट्ट (कथा-वार्ताकुशल) (६)

घटकर्पर (कवितापटु) (७) (ज्यौतिष-साहित्यज्ञ) (८) वराहमिहिर (ज्योतिर्वित्) (६) वररुचि (व्वैयाकरण) ये नवरत्न हैं।

न जाने किस मुहूर्त में यह श्लोक बना जिसका प्रचार 'यत्परो नास्ति' की सीमा को पहुँच गया है। अब तो यह शायद ही कभी भूलेगा। यह श्लोक संस्कृत के 'ज्योतिर्विदाभरणम्' नामक ग्रन्थ में है जिसे कालिदास नामधारी सज्जन ने लिखा है। यह ग्रन्थ प्रधानतः मुहूर्तों का प्रतिपादन करता है। इसमें २२ अध्याय हैं। अध्याय के अन्त में विक्रम का वर्णन प्रायशः मिलता है। अन्तिम अध्याय में सम्राट् का बड़ा ही आटोपमय वर्णन है। जिसे पढ़ कर किसी का हृदय मुग्ध विक्रमादित्य हुये बिना नहीं रह सकता है। लेखक की इस आडम्बर-पूर्ण वर्णना न इतिहासज्ञो को "चक्करगिन्नी" खिला दिया है—इसमें सदेह नहीं। पाठक भी थोड़ा आनन्द ले—लेखक लिखता है—

"इस ग्रन्थ (ज्योतिर्विदाभरण) में पर्व, व्रत, मुहूर्त के निर्णय के पश्चात् ग्रन्थ की विषयानुक्रमणा तथा विक्रम-महीपति का आनन्ददायी वर्णन करूँगा[1]।

श्रुति-स्मृति विचारों स परिपूर्ण भारतवर्ष में सम्राट् विक्रमादित्य की शासन-बेला में मैंने इस रचना का निर्माण किया है[2]।

शङ्कु, वररुचि, मणि, अंगुदत्त, जिष्णु, त्रिलोचन, हरि, घटखर्पर, अमरसिंह, सत्य, वराहमिहिर, श्रुतसेन, बादरायण, असिक्त, कुमारसिंह,

---

१ अथेह पर्वव्रतकालनिर्णयादनन्तरं ग्रन्थनिरूपणाक्रमम्।
ब्रुवे तथा विक्रममेदिनीविभोरभिमजानन्दकरस्य वर्णनम्॥

२ वर्षे श्रुतिस्मृतिविचारविवेकरम्ये श्रीभारते खधृतिसम्मितदेशपीठे।
मत्तोऽधुना कृतिरियं सति मालवेन्द्रे श्रीविक्रमार्कनृपराजवरे समासीत्॥

और ज्योतिर्विद्, मुझ (कालिदास) जैसे बहुत से विद्वान् विक्रम की राजसभा में हैं[1]।

विक्रम-नरेश की सभा में ८०० माण्डलिक नरेश, अठारह करोड़ सैनिक, सोलह पण्डित, दश ज्योतिषी, छः वैद्य (भट्ट ढाढ़ी) तथा १६ वैदिक विद्वान् रहते थे। सम्राट् विक्रम के तीन सौ करोड़ पैदल सिपाही अठारह योजन के घेरे में चलते थे, घोड़ों-हाथियों की तो अपार सख्या थी। उसके प्रयाण के समय चार लाख नावें चलती थीं[2]।

सम्राट् विक्रम ने पृथिवी पर दशो दिशाओं के शकों का हनन कर कलियुग में अपने संवत् का प्रचार किया और मोती माणिक सोना, गौ-आदि के दान से धर्म की धुरा को उन्नत बनाया[3]। विक्रम ने द्रविड़,

१शंकुः सुवाग्वररुचिर्मणिरंगुदत्तो जिष्णुस्त्रिलोचनहरी घटखर्पराख्यः।
अन्येऽपि सन्ति कवयोऽमरसिंहपूर्वा यस्मैव विक्रमनृपस्य सभासदोऽमी॥
सत्यो वराहमिहिरः श्रुतसेननामा श्रीवादरायणमसित्तकुमारसिंहाः।
आविक्रमार्कनृपसंसदि सन्ति चैते श्रीकालतन्त्रकवयस्त्वपरे मदाद्याः॥

२अष्टौ यस्य शतानि मण्डलधराधीशाः सभायां सदाः,
स्युः संसत्परिणाहकोटिसुभटाः सत्पण्डिताः षोडश।
दैवज्ञा दशपण्मिताश्च भिपजो भट्टास्तथा टाढिनो,
वेदज्ञा रसचन्द्रमा विजयते श्रीविक्रमः सोऽधिभूः॥
यस्याष्टादशयोजनानि कटके पादातिकोटित्रयम्,
वाहानामयुतायुतं च नवति स्त्रिग्नाकृतिर्हस्तिनाम्।
नौकालक्षचतुष्टयं विजयनो यस्य प्रयाणेऽभवत्,
सोऽयं विक्रमभूपतिर्विजयते नान्यो धरित्रीधरः॥

३येनास्मिन् वसुधातले शकगणान् सर्वान् दिशः संगरे,
हत्वा पंच नव प्रमान् कलियुगे शाकप्रवृत्तिः कृता॥,

लाट, बङ्गाल, गौड़, गुजरात, धार, कम्बोज आदि देशों के उग्र-भूपतियों को दबा दिया१।

इसकी राजधानी उज्जयिनी पुरी है जो सब आश्रित प्राणियों को मोक्ष देने वाली है और जहां स्वयं भगवान् महाकाल विराजते हैं२। इन्होंने रोम देश के शकाधिपति को पकड़ मंगाया और दया से जीते जी छोड़ दिया३। इनके शासन के समय उज्जयिनी की सारी प्रजा सुखी और सम्पन्न थी४। इस विक्रमनरेश की सभा में शंकु आदि पण्डित, वराह आदि ज्योतिषी और कवि तो अनेक हैं। उन सब में श्रेष्ठ बुद्धि वाला और सम्राट् का सखा 'मैं कालिदास'५ हूं (!!) मैंने

श्रीमद्विक्रमभूभुजा प्रतिदिनं मुक्तामणिस्वर्णगो,
राशीभाद्यपवर्जनेन विहितो धर्मः सुपर्णाननः॥

१उद्दामद्रविडद्रुमैकपरशुर्लाटाटवी पावको,
वेलभद्वंगभुजङ्गराजगरुडो गौडाब्धिकुम्भोद्भवः।
गर्जद्गुर्जरराजसिन्धुरहरिर्धाराान्धकारार्यमा,
काम्बोजाम्बुजचन्द्रमा विजयते श्रीविक्रमार्को नृपः॥

२यद्राजधान्युज्जयिनी महापुरी सदा महाकालमहेशयोगिनी।
समाश्रयिप्राण्यपवर्गदायिनी श्रीविक्रमार्कोऽवनिपो जयत्यपि॥

३यो रूमदेशाधिपतिं शकेश्वरं जित्वा गृहीत्वोज्जयिनीं महाहवे।
आनीय सम्भ्राम्य मुमोच यत्त्वहो स विक्रमार्कः समसह्यविक्रमः॥

४तस्मिन सदा विक्रमगे दिनेशे विराजमाने समवन्तिकायाम्।
सत्पूजनामङ्गलसौख्यसम्पद्बभूव सर्वत्र च वेदकर्म॥

५शंक्वादिपण्डितवराः कवयस्त्वनेके ज्योतिर्विदः समभवंश्च वराहपूर्वाः।
श्रीविक्रमार्कनृपसंसदि मान्यबुद्धिस्तैरप्यहं नृपसखा किल कालिदासः॥

रघुवंश आदि तीन काव्यों की रचना की है और यह ज्योतिर्विदाभरण मेरे द्वारा विरचित हुआ है !! ...... इत्यादि[१] ।

जिस 'तपाक' और 'ताव' के साथ लेखक ने इस अध्याय के द्वारा लोगों को 'मुग्धमति' बनाना चाहा है—उसको देख कर 'साहसकर्त्रे-नमस्तुभ्यम्' सहसा मुख से निकल पड़ता है। कहाँ वाणी के उस वरदपुत्र की—

'मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥'

जैसी विनीत-वाणी ! और कहाँ इस धृष्ट-शिरोमणि की—

'नृपसखा (!) किल कालिदासः !!'

× × ×

'श्री कालिदासकवितो हि ततो बभूव !!'

जैसी अहङ्कार-गर्जना ! अन्तर महदन्तरम् । ज्योतिर्विदाभरणम् की भाषा अशुद्ध, श्लथ-नीरस और काव्यदोष से सतत-संयुक्त है। उसके अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह किसी जैन-मत ग्रस्त अर्वाचीन व्यक्ति की रचना है। 'रघुवशादि काव्यों और शाकुन्तलादि-नाटकों के निर्माता, और 'ज्योतिर्विदाभरणम् के विधाता' में उतना ही भेद दृष्टिगोचर होता है जितना कि काशी में नगवा-प्रदेश की स्वच्छ-चञ्चल जलधारा और दशाश्वमेध के मल-कलुषित 'पनाले' में भेद है !! कुछ भी हो, दो बातें तो माननी ही पड़ेंगी या तो (१) ग्रन्थकर्ता ने प्राचीनकाल की आई हुई कालिदासीय-ख्याति को अपनाने के लिये

---

[१]काव्यत्रयं सुमतिकृद्रघुवंशपूर्वं, पूर्वंततो ननु कियच्छ्रुतिकर्म्मवादः ।
ज्योतिर्विदाभरणकालविधानशास्त्रं, श्रीकालिदासकवितोहिततो बभूव ॥

इस सन्दर्भ की सृष्टि की या (२) किसी अन्य व्यक्ति ने लोक-वञ्चना की दृष्टि से इस अश का प्रक्षेप किया१ ।

इतना होने पर भी 'असारात्सारमुद्धरेत्' की नीति से कुछ मतलब की बातें भी निकलती हैं। 'ज्योतिर्विदाभरणम्' के कर्त्ता का समय ११६४ शक माना जाता है । ज्ञात होता है कि आदिम विक्रम और कालिदास की प्रचण्ड-कीर्ति मे प्रभावित होकर अनुचित लाभ उठाने में यह ग्रन्थकार अग्रसर हुआ—परन्तु इसने सत्य-असत्य दोनों बातों का मिश्रण इस भाँति कर दिया कि साधारण-जन से यह विषय लक्षित न हो सके। इसमें सन्देह नहीं कि इस सन्दर्भ के कुछ कवि सत्यतः स्थित हैं। किन्तु अधिकांश इसका 'कपोलकल्पना' के अतिरिक्त कुछ नहीं। डा० भाऊदाजी ने इस अन्तिम अध्याय का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है। तथा इन्हे छठवीं शताब्दी का माना है । किन्तु जिस पद्य के आधार पर उन्होंने गणना द्वारा यह मत किया है, वह क्रम ही अशुद्ध होने के कारण उनका मत भ्रान्त है। इसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के विवेचक और मननशील श्रीजयशंकर 'प्रसाद' ने स्कन्दगुप्त-कालीन मातृगुप्त को कालिदास मान कर उन्हे ज्योतिर्विदाभरण और रघुवंशादि तीन काव्यों का कर्ता कहा है तथा इनका समय ४५० से ५२५ ई० के भीतर माना है—सो यह सब प्रमाणाभाव से सर्वथा उपेक्ष्य है। मेरा विचार है कि ज्योतिर्विदाभरणम् से प्रथम विक्रम और कालिदास का कोई सम्बन्ध नही । इस ग्रन्थकर्ता की सारी कल्पना सारे आडम्बर का मूल-हेतु अपने को उन महाकवियों की पंक्ति में लाना और प्रकृत ग्रन्थ का प्रचार करना ही था।

'यक-मुश्त खाक हैं मगर आँधी के साथ हैं।' वाली बात ठहरी।

---

१ महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी-प्रणीत 'गणकतरंगिणी' का मत ।

रह गई नवरत्नों की बात उसे मैं सत्य मानता हूँ। ये नवरत्न सचमुच संस्कृत-वाङ्मय के अजर अमर रत्न हैं। किन्तु इनके काल-निर्णय में बड़ी बाधा है। फिर भी इतिहास-लेखकों ने 'अनुमान-उपमान' से कुछ कुछ प्रकाश डाला है। उनके अनुसार काल-निर्णय का रूप यह है—

१	धन्वन्तरि	४०० ई०
२	क्षपणक	अज्ञात
३	अमरसिंह	४०० ई०
४	शंकु (क)	८०० से ६०० ई० के मध्य
५	वेतालभट्ट	अप्राप्त
६	घटकर्पर	५०० से ६०० ई०केमध्य
७	कालिदास	अनिश्चित
८	वराहमिहिर	५०० से ५५० तक
९	वररुचि	४०० ई० के लगभग

परन्तु इस निर्णय से भारतीय-परम्परा का कुछ मेल नहीं खाता। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इन रत्नों में कुछ तो 'कल्पित' (वेताल) कुछ 'सन्दिग्ध-नामा' (क्षपणक-घटकर्पर) कुछ 'पुनरुक्त' (धन्वन्तरि) से प्रतीत होते हैं - कुछ तो ऐसे हैं जिनके नाम के अनेक रचनाकार संस्कृत-साहित्य में विश्रुत हैं। जैसे वररुचि कालिदास और अमरसिंह। पता नहीं वह सौभाग्य-दिवस कब होगा जब हम इस प्रकार की सांस्कृतिक-गुत्थियों को सुलझाने की सामग्री पा सकेंगे।

विक्रम और कालिदास

'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः।'

—कालिदास

अर्थात् सन्देहास्पद वस्तु में सज्जन का हृदय ही सब से बड़ा प्रमाण है—मालूम होता है हमारे भारतीय आधुनिक विद्वानों को 'हृदय' का वरदान मिल गया है। नहीं तो कालिदास के काल-निर्णय को लेकर अपनी २ मानसिक कल्पनानुसार उनका सम्बन्ध विभिन्न राजाओं से कैसे लोग लिखते। किसी ने रघुवश के चौथे सर्ग को पढ़ कर रघु के दिग्विजय को समुद्रगुप्त का, किसी ने चन्द्रगुप्त (द्वितीय), किसी ने कुमार गुप्त, किसी ने स्कन्दगुप्त और एक महाशय ने यशोधर्मा का दिग्विजय बताया है। और फिर इन सभी के साथ कालिदास की स्थिति बैठाई गई है और इस के प्रमाण में दिये गये हैं रघुवंश के वे पद्य-खण्ड जिनमें कहीं समुद्र कहीं कुमार कहीं गुप्त कहीं भानु शब्द आ गये हैं[1]। एक सज्जन ने तो 'अग्नि' शब्द पढ़ कर 'अग्निमित्र'[2] का वर्णन मान लिया है। यह अन्तःकरण की प्रवृत्ति अच्छी रही। इस अन्तःकरण की प्रवृत्ति

---

[1] जैसे (१) 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' (२) 'आकुमारकथोद्घातम्'
(३) 'स्कन्देनसाक्षादिवदेवसेनाम्' (४) 'अन्वास्य गोप्तागृहिणीसहायः'
(५) 'सगुप्तमूलप्रत्यन्तः'
(६) 'प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद् व्यानशे दिशः'
आदि के रेखाङ्कित शब्द'

[2] हन्दी-मेघदूत की भूमिका, लेखक—कन्हैयालाल पोद्दार।

के शिकार डा॰ हार्नले जैसे विदेशी से लगा कर महामहोपाध्याय प॰ रामावतार शर्मा जैसे शुद्ध स्वदेशी विद्वान तक हैं ! ऐसी स्थिति में उसी विषय पर विचार करने के पूर्व मुझे कुछ संकोच का अनुभव करना पड़ता है, तथा महिमभट्ट का एक प्रासङ्गिक पद्य भी याद पड़ता है—

अन्यैरनुल्लिखितपूर्वमिदं ब्रुवाणो, नूनं स्मृतेर्विषयतां विदुषामुपेयाम् ।
हासैककारण गवेषणया नवार्थतत्वावमर्शपरितोषसमीहया वा ॥

इस श्लोक में 'अनुल्लिखित' के स्थान पर 'समुल्लिखित' और 'नवार्थ' के स्थान पर 'ऽनवार्थ' का पाठ बदल देने से मेरी अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। सचमुच की जिस बात पर विद्वद्गण हंस दे उससे बढ़कर बड़भागी कौन है !

मेरे देश का यह प्रबल विश्वास है कि विक्रम और कालिदास समसामयिक हैं। सम्राट् हो तो विक्रम ऐसा और कवि सम्राट् हो तो कालिदास ऐसा। लोक की इस अनुभूति से अनुप्राणित हो कर ही आज के सर्वश्रेष्ठ विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक मार्मिक 'अतीत का गीत' इस प्रकार गाया है—

"आज तुम कवि शुधु नइ आर केह—
कोथा तव राजसभा, कोथा तव गेह,
कोथा सेइ उज्जयिनि,—कोथा गेल आज,
प्रभु तव, कालिदास,—राज-अधिराज।

× × ×

कोनो चिह्न नाहि कारो ! आज मने हय
छिले तुमि चिर दिन चिरा नन्द मय
अलकार अधिवासी !"

अर्थात् हे कवि ! आज तुम नहीं हो। तुम्हारी राजसभा कहां है ? तुम्हारा घर कहां है ? वह उज्जयिनी नगरी कहॉ गयी ? तुम्हारा प्रभु— वह राज-अधिराज (विक्रम) कहां गया ? हे कवि ! आज किसी का कोई चिह्न नहीं हैं। मालूम पड़ता है कि तुम चिरानन्दमय अलका के अधिवासी थे !!

प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुशीलन से यह सुचारुरूपेण लक्षित होता है कि विक्रम और कालिदास अखण्ड थे। संस्कृत के सुभाषित-ग्रन्थों में यह अनुकीर्तन पराकाष्ठा को पहुंचा है।

'बल्मीकप्रभवेण रामनृपतिर्व्यासेन धर्मात्मजः।
व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्रीविक्रमार्कोनृपः॥'

ऐसी सूक्तियों से अन्तःकरण और भी दृढ़ हो जाता है। 'रामचरित' महाकाव्य के प्रणेता इतिहास सिद्ध शतानन्द-सूनु अभिनन्द की—

'ख्यातिं कामपि कालिदासकवयोनीताः शकारातिना'

इस पंक्ति से भी यही प्रतिध्वनित होता है। संस्कृत-वाङ्मय के अन्तिम आलंकारिक-शिरोरत्न पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसगंगाधर' में 'अनन्वयालंकार' ..निरूपण के प्रकरण में—

'अम्बरत्यम्बरं यद्वत्समुद्रोऽपि समुद्रति।
श्रीविक्रमार्कभूपाल ! तद्वत्त्वं विक्रमार्कसि॥'

इस अनवद्य-पद्य से विक्रम-कीर्ति-कीर्तन के अनन्तर ही 'उदाहरणालङ्कार, के प्रसङ्ग मे कविकुलगुरु कालिदास के सुप्रसिद्ध

'अनन्तरत्नप्रभवस्य तस्य, हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एकोऽहि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।'

का उल्लेख किया हैं। अन्य कवि के लक्षण को स्पर्श तक न करने की भीष्म प्रतिज्ञा करने वाले रसगंगाधरकार ने ऐसा क्यों किया। इसका बहुत चिन्तन करने पर भी मन में कोई समाधान नहीं मिलता

है। यदि मिलता है तो बस यही कि उनके अन्तःकरण पर 'विक्रम-कालिदास' का अन्योन्याश्रय सम्बंध ही अंकित था।

पूर्व चर्चित गाथा सप्तशती के प्रस्तावित पद्य—

'संवाहनसुखरसितेन ददता तव करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः॥'

में विक्रमादित्य का वर्णन तो है ही, साथ-साथ इस गाथा में कालिदास के 'मेघदूत' के एक पद्य१ की छाया भी साफ-साफ प्रतीत होती है। इससे भी 'विक्रम-कालिदास' की सहचारिता की स्पष्ट सूचना प्राप्त होती है। पद्मनाथमिश्र-रचित 'व्याकरणादर्श' के—

'चञ्चलाऽप्यचलालक्ष्मीर्वाणी यस्य गृहे गृहे,
विष्णुवन्तमहं वन्दे विक्रमो यत्र भूपतिः।
कालिदासादयोऽप्यन्ये संख्यावन्तः सहस्रशः॥'

इन पद्यों से भी 'विक्रम-कालिदास' की एक कालिकता का पता चलता है और यह भी पता चलता है कि वे दोनों उज्जयिनी को अलंकृत करते थे। विक्रम और उज्जयिनी का जैसा सम्बन्ध है वही सम्बन्ध 'कालिदास' और 'उज्जयिनी' का भी है। यहाँ तक तो अन्य कवि-कोविदों की 'गवाही' से काम लिया गया है, किन्तु यदि कालिदास की रचना से ही विक्रम का कुछ वर्णन मिल जाय—तो सभी को सन्तोष होगा। आइये! थोड़ी देर कवि-कुलगुरु के नन्दन-निकुंज का आनन्द लें और वहीं रम कर इस पुरातत्त्व की ग्रन्थि को खोलने की चेष्टा करें।

---

१ **वासश्चित्रं मधुनयनयोर्विभ्रमादेशदक्षम्,**
पुष्पोद्भेदं सह किशलयै भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या—
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः॥

इसके रेखांकित पद का विस्तृत रूप, गाथा में स्पष्ट दिखलाई दे रहा है।

सब से पहिले पाठकों का ध्यान मैं 'रघुवंश' की ओर खींचना चाहता हूँ—क्योंकि इसी ग्रन्थ के आधार पर अन्य-आलोचकों की विचारभित्ति खड़ी है। गुप्त-काल के सुवर्णयुग से आकृष्ट होकर बहुत से गण्य-मनीषियों ने 'कालिदास' को तत्कालीन माना है और इसका सब से बड़ा प्रमाण रघुवंश के षष्ठ-सर्ग में 'मगध-नरेश' का वर्णन किया है। प्रसङ्ग यह है कि 'इन्दुमती' अपने लिये वर का अन्वेषण करती है—स्वयम्बर का रङ्ग-मञ्च राजाओं से अलङ्कृत है। उसमें 'सुनन्दा' नाम की 'पुंवत्प्रगल्भा' द्वार-पालिका एक-एक राजा के विभिन्न गुणों से इन्दुमती को परिचित कराती है—उसमें सब से पहिले मगध-राज के समक्ष ही इन्दुमती लाई गई है और मगधराज का उत्कृष्ट परिचय दिया गया है—इस से 'मगधनरेशों' के प्रति कालिदास का पक्षपात-विशेष प्रकाशित होता है, तथा मगध-नरेश के आश्रय में उनका रहना भी सूचित होता है।

पाठकों की सुविधा के लिये वह प्रसङ्ग ही मैं नीचे उद्धृत कर देता हूँ—

१

'असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा॥
कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥
क्रिया प्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यांनलकाँश्चकार॥
अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशं।
प्रासादवातायनसंश्रितानन्नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम्॥

एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा॥'

[रघुवंश ६ स० २१-२५ श्लो०]

अर्थात् [सुनन्दा कहती है]—

ये शरणागत-रक्षक, अगाध-बलशाली, प्रजा-रजन से 'राजा' शब्द को सार्थक करने वाले, मगध में प्रतिष्ठा प्राप्त 'परन्तप' नाम के यथार्थनामा सम्राट् हैं। पृथिवी पर यों तो हजारों नरेश हैं परन्तु वसुधा का 'राजन्वती' नाम इन्हीं से उसी भाँति सार्थक है जिस भाँति रात्रि का 'ज्योतिष्मती' नाम चन्द्रमा के कारण ही पड़ता है। दिन-रात यज्ञ-होम के प्रबन्ध में ये 'इन्द्र' को इतना अधिक निमन्त्रित करते हैं कि इन्द्र के निरन्तर-प्रवासी होने से 'इन्द्राणी' की चोटी के बाल मन्दार-शून्य होकर कपोल पर छितराये रहते हैं। ऐसे (धार्मिक) सम्राट् के साथ यदि तुम विवाह करो तो, तुम 'पाटलिपुत्र-नगर' के महलों के झरोखों से झाँकने वाली रमणियों के नेत्र को आनन्दित कर सकोगी।

सुनन्दा के इतना कहने पर 'स्वयंवर-माला' को जरा खिसका कर 'इन्दुमती' ने जरा सा प्रणाम करने का भाव दिखा, बिना कुछ बोले ही, अलग हो गई।

इसी के साथ स्वयंबर-प्रसङ्ग का 'अवन्ती-नाथ-वर्णन' भी पाठक पढ़ लें तब दोनों का तारतम्य-विवेचन करना सुगम हो जायगा।

२

ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ।
निदर्शयामास विशेषदृश्यमिंदुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै॥
अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति॥

अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥
असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किलचन्द्रमौलेः ।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥
अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु ! कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥
तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के ।
बबन्ध सानोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम् ॥

[रघु० ६ स० ३१-३६]

अर्थात् तब द्वारपालिका 'सुनन्दा' ने 'इन्दुमती' को नये उगे हुये इन्दु के समान दर्शनीय, शत्रुओं से असह्यप्रताप वाले 'अवन्तीनाथ' को दिखाया और कहा देखो ! बड़ी-बड़ी बाहों वाले गोल और पुष्ट कटि देशधारी, चौड़े-बलिष्ठ छाती वाले ये अवन्ती के राजा हैं—इनका शरीर सौष्ठव इतना नयन-रमणीय है कि अनुमान होता है कि 'विश्वकर्मा' ने अपने 'चक्रभ्रम' पर चढ़ाकर इनके सौन्दर्य को यत्न-पूर्वक चमकाया है। जब ये अपनी समस्त 'समर-वाहिनी' के साथ प्रयाण करते हैं तो सेना से उठी धूल से बड़े-बड़े सामन्तों के मौलि-मुकुट मलिन हो जाते हैं। ये भगवान 'चन्द्रमौलि-महाकाल' के मन्दिरके निकट रहते हैं अतएव कृष्ण पक्ष में भी अपनी स्त्रियो के साथ नित्य-पूर्णिमा का आनन्द लेते हैं। हे इन्दुमति ! इस युवा राजा के ऊपर तुम्हारी कुछ प्रीति है ? तो सिप्रा की तरङ्गों से उठे हुए पवन से कम्पित उद्यान-श्रेणी में विहार करो।

किन्तु अपने प्रताप से शत्रु-पङ्क को सोखने वाले और बन्धु-कमल को खिला देने वाले, 'अवन्ती-पति' पर उत्तम-सुकुमारी 'इन्दुमती' का भाव नहीं ठहर सका।

३

अब दोनों वर्णनों को सामने रख कर, विचार करने से क्या निष्कर्ष निकलता है—इसकी मीमांसा करनी चाहिये। 'मगध-नरेश' के वर्णन की उत्कृष्टता का क्या कहना है—आखिर 'कविकुलगुरू' की ही लेखनी ठहरी! किन्तु दोनों के अन्तर में एक भेद तो स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है, जो थोड़ा सा ध्यान देने पर खुलासा हृदयङ्गम हो जाता है। वह यह है। 'मगध-नरेश' का चित्रण एक बड़े धर्म-भीरु प्रौढ-वयस्क 'महात्मा-नृप' के रूप में किया गया है। उनके माहात्म्य की बड़ी से बडी बातें कह दी गई हैं। शरणार्थियों को शरण देना, वसुधा को 'राजन्वती' बनाना और रात-दिन यज्ञ करना उनकी विशेषतायें है। जिनका अनुभव करने के बाद 'मगधराज' की धार्मिकता सात्विकता के सामने सिर झुक जाता है—श्रद्धा का भाव उदित हो जाता है। यह वर्णन कुछ-कुछ वैसा ही है जैसा आज कल का मनुष्य-समाज भी 'मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र' के लिये कहता है। 'वे बड़े सत्यवादी थे, पिता की आज्ञा पर राज-पाट पर लात मार कर बन चले गये, प्रजा-पालन के सामने स्त्री को भी कुछ न समझा—आदि'। इस प्रकार के चरित्र-चित्रण को ही 'दूर की लग्गी लगाना' कहते हैं। अपने परोक्ष में होने वाले विषय की भी चर्चा इसी प्रकार के शब्दों में की जाती है। पाठक स्वयं सोच लें कि एक 'घन-पीन-पयोधर-भार-नता-वर-अन्वेषिणी-सुकुमारी-राजललना' के सामने किसी वृद्ध-कल्प नरेश के चित्रण का क्या अर्थ हो सकता है? इस विषय को 'सहृदय-हृदय-संवेद्य' के रूप में छोड़ कर पाठकों का ध्यान अन्त में 'इन्दुमती' के 'ऋजु-प्रणाम-क्रिया' की ओर लाना चाहता हूँ। 'मगध-नरेश' का परिचय दिला कर 'इन्दुमती' से उनको 'श्रद्धापूर्वक' या 'अनिच्छापूर्वक' प्रणाम कराना, 'कालिदास' का यह कार्य-ही निर्णय कर देता है कि स्थानीय 'मगध-नरेश' की वर्णना में

'संख्यापूरणेडट्' के सिवा कोई दूसरा अभिप्राय नहीं है।

दूसरी बात यह है कि 'पुष्पपुर' की मङ्गल-महनीया-गङ्गा की वेग-वती धारा का कहीं कुछ पता नहीं। उस परम-रमणीय नगरी के व्रतती-तरु-मण्डित-गृह-उपवनों का कहीं प्रसंग नहीं, वहाँ के स्वर्ण-सौधों का, वहाँ की युद्धमदोन्मत्त वीर-मण्डली का कोई भी उपक्रम नहीं क्या इन सबके बिना 'मगधनरेश' का यह उल्लेख पूर्ण माना जायगा?

इसी समय पाठक 'अवन्तीनाथ' के वर्णन की ओर भी दृष्टिपात करें। वहाँ दूसरा ही दृश्य है। 'इन्दुमती को इन्दु' दिखाने की सूक्ष्म कैसी सुन्दर और मार्मिक है! 'उदग्रबाहुः' 'विशालवक्षाः' 'तनुवृत्तमध्यः' कहने से भी जब कवि का मन न भरा तब 'आरोप्यचक्रभ्रममुष्णतेजा-स्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति' कह कर कवि ने 'अवन्तीनाथ' की शारीरिक गठन का कैसा परिचय दिया है। उस पर भी 'विभाति' का 'लट् लकार' तो गजब ढा रहा है—वह साफ-साफ बतलाता है कि कवि ने वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करके अपनी 'आँखों में नाचनेवाले' अवन्ती-नाथ का रूप खड़ा किया है। यही अवन्ती 'जनपद-वाचक' शब्द है और इसी अर्थ में इसी कवि ने मेघदूत पूर्वार्ध में—

'प्राप्यवन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्'

यह पंक्ति लिखकर दोनों का सामञ्जस्य बैठा दिया है।

इसके बाद 'अवन्तीनाथ' की सामरिक-सेना का कैसा उदात्त वर्णन है। यदि कवि ने देखा नहीं तो यह वर्णन इतना सजीव कैसे किया। अन्य 'सामन्तों' के ही मुकुट क्यों मलिन होते हैं 'राजा महाराजाओं' के क्यों नहीं? कालिदास-साहित्य के अनुशीलन-कर्ता ही इस रहस्य को जानने की क्षमता रखते हैं। 'रहस्यमेतत् प्रविदन्ति कोविदः' यही

'सामन्त' शब्द घूम-फिर कर रघुवंश के पञ्चम सर्ग में[१] विक्रमोर्वशीय[२] (नाटक) में तथा यही 'सामन्त' शब्द सम्राट् विक्रम के ज्येष्ठ सहोदर 'भर्तृहरि' की रचनाओं[३] में आता है। चौथे श्लोक में महाकाल का वर्णन तो इस दिशा में और भी विश्वास बढ़ाता है। इसी 'महाकाल' का भाष्य कवि ने मेघदूत में बारंबार किया है[४]। पञ्चम श्लोक तो रेखा-चित्र का एक अद्भुत नमूना है। "'अवन्तीनाथ' एक 'युवा-पार्थिव' है, 'सिप्रा' नदी की लहरियों के शिशिर-पवन में आन्दोलित, उद्यान-श्रेणी में विहार करने में रसिक है—हे इन्दुमति ! क्या तुम इन्हें चाहती हो ?" -इस वाक्य में कवि की मधुरवाणी मूर्तिमती हो उठी है। यही 'पार्थिव' शकुन्तल-नाटक के अन्त में प्रजा-पालन का उपदेश पा रहा है[५], यही 'सिप्रा' का 'प्रत्यूष-पवन' मेघदूत में रात्रि-रमण-केलि-श्रान्ता

१ अथाभिशिष्ये प्रयतः प्रदोषे, रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्भम् ।
सामन्तसम्भावनयैव धीरः, कैलासनाथं तरसा जिगीषुः ॥

२ "सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठमेकातपत्रभवने न तथा प्रभुत्वम् ।
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्तामाज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः ॥"
(विक्रमो ८७ श्लो०)

३ "सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत् ।
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः........."
(वैराग्य शतक, ३८ श्लो०)

४ "अप्यन्यस्मिन् जलधर ! महाकालमासाद्य काले,
स्थातव्यं ते नयनसलिले यावदत्येति भानुः ।
कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया—
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥"

५ प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः, सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम् ।

ललनाओं की श्रान्ति के हरने में प्रार्थना—चाटुकार 'प्रियतम' का रूप धारण कर रहा है१। अन्तिम-छठा श्लोक सब से अधिक महत्व-पूर्ण है। इसमें कवि ने 'मुद्रालंकार' में 'विक्रमादित्य' की अभिजात-वश्या—उत्तमसौकुमार्या 'भानुमती' का नाम रखने में सीमातीत-चतुरता दिखाई है। 'सांप मरे-लाठी न टूटे'—जैसी कहावत यहीं उपयुक्त है। इस श्लोक में बड़े ढग से 'इन्दुमती' का 'भानुमती' के तुल्य न होना और उस पर 'विक्रमादित्य'. के मन का आकृष्ट न होना—बतलाया गया है। 'उत्तमसौकुमार्या-भानुमती इव सा इन्दुमती भावं न बबन्ध' इस प्रकार का अन्वय कर देने से सारा प्रकरण ही एक विशेष प्रकार के चमत्कार से चमक उठता है। यह तो स्पष्ट ही है कि 'मगध-नरेश' की अपेक्षा 'अवन्तीनाथ' का चित्र बहुत-साफ उतरा है। इतना ही नहीं यह भी ज्ञात हो जाता है कि रघुवंश के 'अवन्तीनाथ' वाले श्लोकों की बातों का सकेत 'मेघदूत', 'शाकुन्तल', 'विक्रमोर्वशी' आदि में सर्वत्र विस्तृत रूप से है। प्रस्तुत-प्रसङ्ग मे 'अवन्तीनाथ' की शारीरिक बनावट, अङ्ग-विशेषों का सौन्दर्य, युवावस्थोचित, विलास-भावना, चतुरगिणी सेना से आरति-सामन्तों का उन्मूलन, महाकाल में इष्ट देव-भाव, सिप्रा-तरङ्ग-शिशिर उद्यान-सेवन आदि बातों का सजीव और मनोग्राही वर्णन 'विक्रम-कालिदास' के आपसी सम्बन्ध को आवश्यकता से अधिक द्योतित करता है।

१दीर्घीकुर्वन् पटुमदकलं कूजितं सारसानाम्,
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः,
सिप्रावातः पियतम इव प्रार्थना चाटुकारः॥

(४)

अब यदि हम 'शाकुन्तल'-नाटक के महाराष्ट्र-बङ्ग-काशी आदि पाठान्तरों की अस्तव्यस्तता का ध्यान छोड़ कर देखें तो 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के संस्करणों में प्रथम अङ्क में 'नान्दी' के बाद ही सूत्रधार के दूसरे वाक्य—

'आर्ये ! रसभावदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम् ''

पढ़ने को मिलता है—जिसका अर्थ स्पष्टतया 'सम्राट् विक्रमादित्य' को 'रस-भाव-दीक्षा-गुरु' और उनकी सभा को 'अभिरूप-भूयिष्ठ' सिद्ध करता है।

(५)

'कुमार सम्भव' का तो कथानक ही 'सम्राट्-विक्रमादित्य' से होने वाली शकों की लड़ाई का 'आँखों देखा' वर्णन है। यह हमारा ही कथन नहीं है। अपने सुप्रसिद्ध निबन्ध-ग्रन्थ 'प्राचीन साहित्य' में विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कथन है—

"कालिदास का कुमारसम्भव कहानी नहीं है, उसमें जो कुछ सूत्र हैं वह अत्यन्त सूक्ष्म और आच्छन्न हैं और हैं वह भी असमाप्त। बात यह है कि विक्रमादित्य के समय में शक-हूण रूपी शत्रुओं से भारतवर्ष का द्वन्द्वयुद्ध चल रहा था और स्वयं विक्रमादित्य उसके नायक थे—इससे ऐसी आशा की जा सकती है कि देव-दैत्यों का युद्ध और स्वर्ग का पुनरुद्धार-प्रसङ्ग उस समय के श्रोताओं को विशेष औत्सुक्य-जनक प्रतीत हुआ होगा।"

यदि पूर्व-कथित अन्तः करण-प्रवृत्ति से काम ले तो—कुमार—सम्भव में ऐसे अनेकों स्थल हैं जहां जान-बूझकर 'साहस' 'पराक्रम' आदि पौरुष-व्यञ्जक शब्दों के स्थान पर 'विक्रम' का ही प्रयोग किया गया है। कुछ उदाहरण ये हैं—

१—असुरयुद्धविधौ विबुधेश्वरे पशुपतौ वदतीतितमात्मजम् ।
गिरिजया मुमुदे सुत'विक्रमे' सति न नन्दति का खलु।वीरसूः ॥
(कु० सं० १२ स० ४१ श्लोक)

२—दिगम्बराधिक्रमणोल्वणं चणान् मृगं महीयांसमरुद्धविक्रमम् ।
अधिष्ठितः संगरकेलिलालसं मरुन्महेशात्मजमन्वगादद्रुतम् ।
[कुमारसं० १४ सर्ग १२ श्लोक]

३—पठतां वन्दिवृन्दानांप्रवीरा विक्रमावलीम् ।
चणं विलम्ब्य चित्तानि ददृशुर्द्दोत्सुकाः पुरः ॥
[१६ सर्ग ४ श्लोक]

(६)

'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक के नामकरण में ही यह व्यङ्ग्य होता है कि पौरव के बहाने 'विक्रमादित्य' के चित्र-चरित्र की एक झलक दिखाना ही कवि का मनोभाव है । श्रीयुत एम्० आर काले ने अपने सम्पादित-संस्करण में इस मत का समर्थन एक टिप्पणी द्वारा भली भाँति किया है ।[1] प्रथम-अंक में पौरव के वीरता-पूर्वक उर्वशी-रक्षा करने के पश्चात् चित्ररथ आकर उनको धन्यवाय देता सा कहता है ।

चित्ररथः (राजानं दृष्ट्वा) दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्ते न विक्रम-महिम्ना वर्धते भवान् ।

तथा

'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः' इन वाक्यों से भी इस विश्वास की पुष्टि होती है ।

---

१ "अथ सर्वत्र पराक्रमशौर्यादीनां स्थाने विक्रमशब्दस्यैव योजनाल्लब्धवर्णभाग्विक्रमादित्यः सापह्नवं स्तुतः स्यादिति गम्यते । कालिदासश्च विक्रमादित्ये नानुगृहीतस्य संसदमलङ्कारेति सुप्रसिद्धो-जनवादः"

'रघुवंश' में तो प्रत्येक सर्ग में इस प्रकार की सामग्री उपलब्ध होती है—जो कवि के मानसिक-भाव पर विक्रम के आधिपत्य की सूचना देती हैं। किंवदन्ती है कि एक रात को तुलालग्न में विक्रमादित्य ने सोते हुए लक्ष्मी का दर्शन किया। लक्ष्मी ने कहा पुत्र ! मैं कहां गिरूँ ! विक्रमादित्य ने उत्तर दिया माता ! मेरे शयन-स्थान को छोड़ कर और सब जगह बरसो। इसके बाद सोने की वर्षा हुई। प्रधानमन्त्री ने राजा से पूछा 'इस सोने का क्या किया जाय' ! विक्रमादित्य ने कहा अपनी-अपनी जमीन का सोना सब लोग लेले। इस कथा से रघुवश के पञ्चम सर्ग में सम्राट् रघु के राज्य में रात्रि में स्वर्ण-वर्षा से आश्चर्य जनक साम्य है। 'द्वात्रिंशत्पुतलिका' की एक कथा से रघुवंश के द्वितीय सर्ग में कही गई दिलीप की गो-सेवा से बहुत ही थोड़ा अन्तर है। स्थान-स्थान पर ऋतुओं-नदियों तथा प्रजा के सुख का जो वर्णन है वह कवि की विक्रम कालीन स्थिति के दर्शन से पोषित है। रघुवंश के...... सर्ग में अयोध्या नगरी का जो दुःख पूर्ण स्वरूप दिखलाया गया है वह सर्वथा शक-अत्याचार से पीड़ित मालव-भूमि का चित्र है—इसमें कोई सन्देह नहीं। पूर्व-प्रक्रिया के अनुसार 'रघुवंश' में भी 'विक्रम' शब्द का प्रयोग—बहुमूल्य हमारी अनुमान-प्रणाली को उत्तेजित करता है जैसे—

१ हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ।
(३ स० ५५ श्लो०)

२ असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता।
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत्॥ (४ स० ५२)

३ तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम्॥ (४ स० ६८)

४ तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम्।
भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः॥ (४ स० ८३)

५ द्विषां विघातकरणोऽपि विक्रमस्तेन माभवति, नाजिते त्वयि।
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥
(११ स० ७५)

६ विक्रमव्यतिहारेण सामान्याऽभूद्द्वयोरपि।
जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव ॥ (१२ स० ३३)

७ उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ,।
विस्पष्टमस्त्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुखस्पर्शसुखोपलम्भात्।
(१४ स० २)

८ स गुणानां बलानाञ्च षण्णां षण्मुखविक्रमः।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥ (१७ स ६७)

रेखाङ्कित पदो का इङ्गित अवश्य ही शब्दार्थ के अतिरिक्त अन्यत्र भी जा रहा है। अन्त में विक्रम और कालिदास की संयुक्त स्थिति के सम्बन्ध में भारत के विश्रुत—मनीषी महामहोपाध्याय पंडित गणनाथ सेन शर्मा सरस्वती के इस विषय से सम्बद्ध विचारों को प्रकट कर जिनको वक्ता ने वंग—वैद्य-महासम्मेलन के सभापति पद पर आसीन होकर व्यक्त किया था, अध्याय को समाप्त करता हूँ—

"सन् ५७ बी० सी० में मालवा देश के राजा विक्रमादित्य ने शक जातियों को मार भगा कर उज्जयिनी से हिमालय तक राज्य विस्तृत कर लिया। इस समय से लेकर प्रायः १०० वर्ष तक देश में शान्ति रही। राजा विक्रमादित्य के शासन-काल मे राज्यविप्लव से जर्जर भारतवासियों ने पुनः ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पुष्टता लाभ की इसी समय में 'कालिदास' के समान प्रमुख कवि हुए थे[१]।"

---

१ आयुर्वेदसंवाद का रजतजयन्ती ग्रन्थ पृष्ठ २२७

कालिदास

—: : -

कालिदास भारतीय सस्कृति के सार्वदेशिक-गायक हैं। उनके गीत का प्रभाव प्रातः साय सर्वदा एक समान पड़ता है। वे रुकना नहीं जानते। गाते ही गाते हमारे हृदय के किसी कोने में रात-दिन अन्तर्द्वन्द्व मचाते रहते हैं। उनके सुभाषित-पीयूष का पान करनेवाला एक अनिर्वचनीय भारत-वासना से आन्दोलित हो उठता है। उन्होंने अपनी सरल-सरस पंक्तियों में 'स्वदेश के स्वर्णिम क्षणों' का चित्र उतार कर रख दिया है। उनकी रचना त्रिकाल-सिद्ध और अपराजिता है। 'आदि-कवि' की पावनता, 'द्वैपायन' की उर्जस्वलता और 'भास' की भाषा-शोभनता को कालिदास ने एक सूत्र में पिरोया है। उन्होंने साहित्य-लक्ष्मी के कण्ठ में कोमल-कल्पनाओं का मुक्ताहार पहिनाया है और साथ-साथ आर्य-संस्कृति के वर्चःप्रदीप्त परमाणुओं में सिंह की क्रुद्ध दहाड़ को भी भरा है। उनकी रचना में एक ओर शतदल का शुचि-हास है, वीणा के ताल-लय का विलास है, तारुण्य-सुलभ अगड़ाई का निकास है, तो दूसरी ओर सोम-रवि का उज्ज्वल प्रकाश हैं, प्रकाश में तम का उच्छ्वास है, और जातीयता का चिरन्तन उल्लास है। वे मन्त्रद्रष्टा ऋषि की भांति अपने अजर-अमर स्वरों से हमारे प्राण को पुलकित-स्पन्दित करते हैं। हां! वे सौन्दर्य के पिपासु है पर 'मोम की पुतलियों पर फिसलने वाले' नहीं किन्तु 'चम्पक वरणी की चारुता, चन्द्रिका के चाटुकार-चकोर' हैं। वे अनन्त-अगाध-अविनाशी प्रीति-

रीति के परम-पवित्र पयोधि हैं। वे यदि 'वीणापाणि' वाणी के नूपुर के रुनझुन, हैं तो भारत पार्वती के वेणी बन्धन में खोंसे हुए 'विकच कोकनद' भी हैं। उन्होंने भाषा-रूपी कड़ी शिला को अपनी इङ्गित रूपी छेनी से हलका हाथ दे-देकर भी फूल-पंखड़ी से भी नरम रूप में ढाल दिया है। भावना के अधर और कपोल पर उन्होंने ही उषा की लालिमा को छिड़का है। काव्य की रीतियों को ठुमुक कर चलना उन्होंने ही बतलाया है। शब्दों को सहस्रों अर्थ-धाराओं में व्याप्त रहने की सीख उन्होंने ही दी। कल्पना का कामगामी स्वर्णरथ उन्होंने ही तैयार किया। गद्य में गौरव और पद्य में पेशलता लाने का श्रेय उन्हीं को है। घन-सार भरी घन घटा का घूंघट उन्होंने ही उठा कर अलका का दिव्य-दर्शन कराया। तमाल-तालीवन की तरंगिणी के तट पर तमस्विनी अमा को तडित् से तिरोहित करने की तीव्र अभिलाषा उन्होंने ही की। दर्पण की स्वच्छता, देवदास की सौरभता, और दक्षिण मलय-पवन की सुशीतलता का उन्होंने ही मधुर मिश्रण किया। उन्होंने अनुपम शिल्पी की भांति कविता-सुन्दरी के लिये स्वप्न कक्ष में अपनी रचना के रूप में एक ऐसी मखमल से भी गुल-गुल 'फूलों की सेज' तैयार की, कि जिस पर पैर पड़ने के बाद वहां से उठने का जी-ही नहीं होता। उन्होंने वेदों, पुराणों, और उपनिषदों की मौलिक कलियों को चुन-चुन कर अपनी मंजूषा में भर लिया है। नीरस डण्ठलों को उठा कर अलग फेंक दिया है। वे जानते थे कि मनुष्य घातक प्राणी है, पूर्वजों को भूल जाने में उसे अद्भुत आनन्द आता है, अतः उन्होंने 'आत्मकथा' को 'देशकथा' में परिणत कर दिया। उन्होंने 'मानव' नामधारी जीव विशेष की तनिक भी परवाह न करते हुए तारों से बातें की, कोयलों से छेड़खानी की, चांद से लुका छिपी खेली, कमलों से इशारे किये, ऊषा के गले में बाहें डालीं, बसन्त से आंखें मिलाईं, हिमालय के

साथ मुसकिराया, शिप्रा के तट पर चोर की तरह चुपचाप आधीरात में वंशी बजाई, और मालव की ममता को करुणा भरे कण्ठ से पुकारा। सहृदय-मधुकरों को सदा के लिये उन्होंने अपना काव्य रूपी 'मधुचक्र' समर्पित कर दिया। हृदय के घात-प्रतिघात का प्रभाव उनके सिवा और कौन जान सका! कला-ललित भाषा, उद्रेकपूर्ण भावावेश, और जीवन के अनुभूत आदर्शों का संगीतमय ऐक्य अन्यत्र कहां मिल सकेगा। छन्दों की स्वच्छन्दिमा को मधुरिम-भावों के अनुबन्धन में लाने का आधार और किस स्थान में प्राप्त होता है। अन्तर्जगत् के रहस्य को रंगीन फूल के समान खिला देने का चमत्कार कालिदास के सिवा किस को ज्ञात है। आपको क्या चाहिये, भाषा की सरलता! तरल भावों की लड़ी! ध्वनि-अनु-ध्वनित शब्दों की शृंखला, श्रुति-मधुर शब्द-धारा, रसका अजस्र-प्रवाह, रीतियों की निर्दोष झंकृति, गुणों की गरबीली गुम्फना, अध्यात्मिक शैली, घटनाओं का पाटव, लोकोत्तर-उपमा, उत्तरोत्तर सन्दर्भ-शुद्धि, चिरन्तन-चेतना, तत्त्व-चिन्तन की चिन्ता, प्रतिभा की तीक्ष्णता, विवेचना की विच्छित्ति, भावों की तरंग-क्रीड़ा, ये सब बातें कालिदास के नन्दन-निकुञ्ज में यथास्थान शताब्दियों से जीवित-जागृत हैं—आप उनका दर्शन करिये और अपने सुकृत-फल का परिणाम उठाइये।

किन्तु ये सब तो उनके वाह्यरूप की विशेषतायें हैं। उनका तथ्यपूर्ण अन्तर्दर्शन तो हिमालय के समान उन्नत उदात्त तथा उज्ज्वल है। उन्होंने अपने 'व्यक्तित्व' को विराट् भारत के संस्थारूप में बदल दिया। उनकी लेखनी की नोंक में देश-प्रेम की चरम-सीमा स्मितहास कर रही हैं। उनकी आत्मा उनके काव्य में प्रतिबिम्बित है। अपने देश अपने धर्म और अपने समाज के ऋण को कैसा उन्होंने चुकाया है—वह वर्णनातीत विषय है। वे भारतभूमि के वन्दनीय चारण हैं। उनके

रोम-रोम में आच्छन्न रहने वाली सांस्कृतिक-आकुलता, उनकी रचनाओं की शत-शत-धाराओं में फूट कर बह रही है। सबसे पहले अतीत का गीत उन्होंने गाया, भविष्य का अनुमान उन्होंने किया और वर्तमान के सम्मान से उन्होंने परिचित कराया। उनकी समस्त रचनाओं में उनका यह राष्ट्र-प्रेम उछल रहा है। वे फारस के चमन में चीखने-तड़पने वाले बुलबुल न थे, वे तो भारत-नन्दनवन को मधुमास का सन्देश सुनाने वाले कोकिल थे। उनका संगीत आघात-मधुर नहीं अविकारी रसायन है। उनकी रचना का पाठ करते समय अन्तस्तल में जिस प्रकार भावरस की बूँदें छहरने लगती हैं, उसका लौकिक शब्दों में परिचय ही नहीं दिया जा सकता। भारत की महिमा दिखाने का थोड़ा भी अवसर यदि मिलता है तो वे उसे योंही हाथ से जाने देना नहीं चाहते हैं। सृष्टि के आरम्भ से प्रलय के अवसान तक होने वाली भारत की सांस्कृतिक-अखण्डता का उनको आश्चर्यजनक ज्ञान था। उन्होंने आर्यत्व की मानों नस पकड़ ली। उन्होंने आर्य-राष्ट्र के पूर्ण गौरवभाव के लिये ही मानों रघुवंश की रचना की। उसमें उन्होंने अपने 'पूर्व-सूरियों' की वाणी के तत्त्वचिन्तन का यथेष्ट प्रमाण दिया है। वे राष्ट्र के हित-अहित दोनों में ही आपे से बाहर हो जाते हैं। उनके विशाल साहित्य-सागर में दो तट बड़े ही विस्मयावह हैं। एक तट बहुत ही शान्त-प्रसन्न सर्वजन प्रिय है दूसरा उससे सर्वथा विरुद्ध-गहन वनच्छन्न है। पर दोनों एक ही चित्र के दो पहलू हैं। एक का नाम है हिमालय गान, दूसरे का नाम है अयोध्या की दुर्दशा, हिमालय भारत का तात्त्विक और श्रद्धाप्लुत वर्णन है, और अयोध्या की दुर्दशा भारतभूमि के विधर्मि-जन-पातित स्वरूप का प्रदर्शन मात्र है।

वह देखो, उत्तर दिशा में पूर्व-पश्चिम समुद्रों से अवगाहित रहने

वाला हिमालय नाम का देवस्वरूप नगराज पृथिवी के मानदण्ड की भांति स्थित है ![1]

जिसको बछड़ा बना कर मेरु जैसे दोह दक्ष दुहने वाले के द्वारा समस्त शैलों ने वसुन्धरा से चमक भरे रत्नों और औषधियों को दुह लिया ![2]

अनन्त रत्नों को उत्पन्न करने वाले इस पर्वतराज की शोभा हिम के कारण नष्ट न हो सकी। सच है, गुणों के समूह में एक दोष वैसे ही निमग्न हो जाता है जैसे चन्द्रमा की किरणों मे उसका कलङ्क ।[3]

सिद्ध-गण जिसकी तलहटी में स्वच्छ घूम-फिरते बादलों की वृष्टि से उद्विग्न होकर ऊपर वाले आनप तापित शिखरों पर चढ जाते हैं ।[4]

जिसके हिम-पात से रक्तचिह्न मिट जाने के कारण गज को मार कर जाने वाले सिंहों का पता उनके नख-रन्ध्र से गिरे हुये मुक्ताफलो से किरात लोग लगाते हैं ।[5]

जहाँ के धातुओं के द्रव से अनुरंजित, कुञ्जर के विन्दु के समान

---

१ अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥

२ यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥

३ अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥

४ आमेखलं संचरतां घनानां छायामधः सानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥

५ पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम् ।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ॥

समान लाल, भूर्जपत्र विद्याधर-तरुणियों के 'प्रेम-पत्र' लिखने के काम में आते हैं।[1]

जो (हिमालय) कन्दराओं से आने वाले समीर के द्वारा कीचक (उत्तम कोटि के) बांसों के छिद्रों को पूर्ण कर गान करने वाले किन्नरों के स्वर पर तान देने की इच्छा कर रहा है।[2]

जहां हाथी अपने कपोलों की खुजली मिटाने के लिये देवदारु की जड़ को रगड़ देते हैं और फिर उससे निकले हुए दूध की सुगन्धि गिरि-शिखरों को सुरभित कर देती है।[3]

जहां अपनी अपनी स्त्रियों को लेकर बनेचर-तरुण, कन्दराओं मे बिलास करते हैं और कन्दराओ को अपनी ज्योति मे जगमगाने वाली औषधियां बिना तेल के 'सुरत प्रदीप' का काम देती है।[4]

जो (पर्वत) दिन के भय से कन्दराओं मे आये हुए अन्धकार की रक्षा दिनकर से करता है—सच है—अच्छे विचार वालों का यही कर्त्तव्य होता है कि वे शरण में आये हुए तुच्छ व्यक्ति की भी रक्षा करते हैं।[5]

---

१ न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरविन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम्॥

२ यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥

३ कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गंधः सुरभीकरोति॥

४ बनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥

५ दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसांसतीव॥

जिस गिरिराज के मन्दाकिनी-जल-कण से शिशिर, देवदारु-कम्पन से सुरभित और मयूर की पांख को फहराने वाला, मन्द पवन का आनन्द हरिणों की खोज में थके हुए किरात लेते हैं![1]

स्वदेश-गौरव की कैसी उतुङ्ग सिद्धान्त भूमिका है। विचार-मणियों कैसी मङ्गल-मालिका प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार का देश-दर्शन किसने कराया है! यदि हम सूक्ष्म-मनन करें तो इन पंक्तियों के भीतर स्वदेशाभिमान धाराप्रवाह से उछलता हुआ मिलेगा। भारत की महत्ता का पुंजीभूत चित्र रख कर कवि ने 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः' (हे समस्त अमृत-सन्तानों! सुनो) के स्वर में सावधान कर दिया है कि तुम्हारी सभ्यता का 'मापदण्ड' मैंने तैयार कर दिया है इससे तुम अपनी उन्नति-अवनति का पता लगाते रहना।

दूसरा चित्र इससे भी मार्मिक है। कुशावती नगरी में सम्राट कुश सोये हुए हैं। आधी रात में सहसा उनके कक्ष में एक विषाद-मूर्ति नारी आती है। उसकी करुणा मूर्ति से कुश प्रभावित हो जाते हैं और कहते हैं—

'का त्वं शुभे! कस्य परिग्रहोसि किंवा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति॥

हे शुभे! तुम कौन हो, किसकी पत्नी हो, तुम्हारे यहां आने का क्या कारण है! रघुवंशियों के चित्त को 'परस्त्री की ओर से विमुख' जान कर सारी बातें खोल कर कहो।

वह उत्तर देती है—

---

[1] भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः॥

—कुमारसम्भव के आरम्भिक-श्लोक

१ वस्वौकसाराममिभूय साहं सौराज्यवद्धोत्सवया विभूत्या ।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ॥
२ विशीर्णतल्पाट्टशतोनिवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे ।
बिडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ॥
३ निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥
४ आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥
५ वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।
प्रासादवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥
६ सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान् सरागान् ।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥
७ चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतंवदन्ति ॥
८ स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥
९ कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु ।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादः ॥
१० आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥
११ रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥
१२ बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥
[रघुवंश १६ सर्ग १० से २१ तक के श्लोक]

अर्थात् अपनी समृद्धि से अलकापुरी को भी तिरस्कृत करने पर भी आज तुम जैसे सूर्यवंशी के रहते हुये इस करुण दशा को प्राप्त है।

एक प्रभु के बिना मेरे महल-मकान ढह रहे हैं, मेरा परकोटा गिर रहा है। मेरी वही दशा है जो सूर्य के डूबने के बाद झंझावात में मेघों के उड़ा दिये जाने पर सन्ध्या-काल की दशा होती है।

जिस राजपथ पर रात में अभिसार के लिये चलने वाली सुकुमारियों के नूपुर 'झननन्—झननन्' की धूम मचाते थे वहाँ भीषण-शृंगालिनियाँ आग भरे मुखों में मांस लिये हुए फेंकर रही हैं।

जिन वापियों का जल सुन्दरियों के हाथ के आघात से मृदङ्ग की भाँति धीरे-ध्वनि करता था वह आज जंगली भैंसों के सींगों से ताड़ित होकर टकरा रहा है।

जो कभी छतों पर बनाये गये नीड़ों में विहार करते थे मृदङ्ग-निनाद पर नाचते थे वे क्रीड़ा मयूर आज वृक्षों की डालियों पर बैठे रहते हैं, उनके पंख दावाग्नि की आँच से झुलस गये हैं।

जिन सीढ़ियों पर नागरिक-कामिनियों के लाक्षा-रञ्जित कोमल-चरण पड़ते थे वहाँ आज मृग को फाड़ कर तुरन्त आने वाले सिंहों के खून से लथपथ पैर पड़ते हैं।

आज प्राचीरों पर कमलों के कुञ्ज में हथिनी से कमल-नाल दिये जाने वाले सुन्दर हाथी के चित्र को सच्चा समझ कर बनैले सिंह, नखों के अङ्कुश से उनका गण्डस्थल फाड़ने के लिये थप्पड़ मारते हैं।

आज, खम्भों पर बनाये गये स्त्रियों के मनोहर चित्र अभी उपस्थित हैं, पर उनका रंग धूसर पड़ गया है, उनके स्तनों को ढंकने के लिये 'सांपों के केंचुल' ही अञ्चल का काम देते हैं।

बहुत दिनों से चूने की उज्ज्वलता कालिमा के रूप में परिणत है महल के नीचे ऊपर सब जगह घास-फूस उग आये हैं, आह! उन पर

आज पहले की भांति चन्द्रमा की किरणें नहीं प्रतिफलित होती हैं।

शोक ! जिन उपवन लताओं की टहनियों को धीरे-से झुकाकर विलासिनियां फूल उतारा करती थीं आज उन्हीं को म्लेच्छ-बर्बर के समान वानर 'नोंच-बकोट' रहे हैं।

रात में जहां दीप नहीं बलता, दिन में कामिनियों की मुखशोभा जहां नहीं रहती, वे गवाक्ष (खिड़कियां) आज धूएँ से काले पड़ गये हैं और मकड़ियों के जालों से वे पट गये हैं।

आज जिसके बालू पर बैठ कर पूजा नहीं होती, स्नानोचित गन्ध-द्रव्यों का जहां प्रयोग नहीं होता, और जिसके तट के आगम-निकुञ्ज मानव-शून्य रहते हैं ऐसी सरयू की श्रीहीनता को देख कर मेरी छाती फट रही है !

कहिये ! अपने राष्ट्र पर अत्याचारियों द्वारा किये दुर्दान्त-उपद्रवों का इससे अधिक हृदयङ्गम वर्णन कहीं अन्यत्र उपलब्ध हो सकता है। पंक्ति-पक्ति में अयोध्या की मूर्ति में 'भारत-जननी' के हृदय की वेदना का प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा है। कौन कह सकता है कि मदान्ध शक-सैनिकों के कुकृत्यों का दुष्प्रभाव ही कवि की लेखनी में जग उठा।

इस प्रकार मेरे ध्यान में यह बात आ गई है कि महाकवि की सारी रचनाओं में स्वदेश की विविध विशेषताओं की एक झिलमिल झांकी है—विजातीय संस्कृति से वे उतनी ही घृणा करते हैं जितना कि कोई 'खुल्लम खुल्ला सुधारवादी'। केवल दोनों के क्रिया-कलाप में अन्तर है। उनके विचार राष्ट्र की सम्पदा हैं। वे किसी नगर, प्रान्त देश या जाति सम्प्रदाय के नहीं अपितु भारत-मेदिनी के सच्चे निधि हैं। वश्व के विज्ञान के शृङ्गार हैं। उनके संस्मरण से, उनकी साहित्य-प्रवृत्तियों के ज्ञान से, हम अपने राष्ट्र के उत्थान और संस्कृति के पुनर्जीवन को सन्धुक्षित कर सकते हैं। उनकी विचार-धारा भारतीय-चिन्तन में एक नवीन-तत्त्व

को उत्पन्न करती है। उनकी अमर-कृतियों का आस्वादन करते समय हमारे ज्ञान-नेत्र के सामने भारत-वसुन्धुरा और उसके निवासियों का अतीत कालीन बल-वैभव 'चल-चित्र' के समान दौड़ने लगता है। उनके शब्द और अर्थ देश-विदेश के विद्वानों के सामने भारतीय सभ्यता का पवित्र प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु आज का साहित्यिक उनके साहित्य में प्रकृति-सुन्दरी का उन्मत्त हास-विलास देखता है। नागर-पण्यस्त्रियों के रति-परिमल-लालित-निधुवनै-शिलामण्डपों का आनन्द उठाता है, सुमधुर-सौरभ-रश्मियों से अनुरञ्जित रस-सरोवर की मादक हिलोरों को देखता है, पर दिलीप-सम्राट् द्वारा की गई गो-सेवा के असाधारण आदर्शों को क्यों नहीं देखता। सर्वस्वदान करने के बाद भी ऋषिकुल के स्नातक की अपरिमित स्वर्ण-राशि की याचना को पूर्ण करने वाले रघु के साहस को क्यों नहीं आनन्द उठाता! नदियों के तट पर प्रशान्त-आश्रम में दिन रात पावन-गन्ध बगरानेवाले 'मखधूम चङ्क्रम' के आलोक से अपने को कृतार्थ क्यों नहीं करता। सच तो यह है कि जब तक हम इस दृष्टि से कालिदास का अध्ययन नहीं करेंगे तब तक उनके द्वारा की गई साहित्य-सृष्टि का मूल्य नहीं आंक सकते। सस्ती और कोरी भावुकता से दूसरी आशा भी क्या की जा सकती है।

कालिदास क काव्य

—:o:—

'ऋतुसहार' उनकी सर्व प्रथम रचना मानः जाती है सस्कृत-भाषा के उपलब्ध खण्ड काव्यों में सर्वाधिक प्राचीन होने का श्रेय इसे ही प्राप्त है। अवश्य ही कवि ने अपनी किशोरावस्था मे इसका निर्माण किया है। इस पर 'मल्लिनाथ' की टीका नहीं प्राप्त होती। इसमें सर्गो मे क्रमशः ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त का मनोमोहक वर्णन है। वंशस्थ, मालिनी, वसन्ततिलका, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा उप-जाति, शार्दूलविक्रीडित आदि विविध वृत्तों से यह काव्य विभूषित है, कुल मिला कर १६३ पद्य इसमें है। केवल ऋतुओं के वर्णन को लेकर सम्भवतः यही एक सस्कृत-काव्य है। वल्लभदेव की सुभाषितावली से इसके २ श्लोक सगृहीत किये गये हैं। ८७२ ई० मन्दसौर– प्राप्त वत्सभट्टि के शिला-श्लोकों में एक श्लोक इस प्रकार है—

रामासनाथभवनोदरभास्करांशुव ह्निप्रतापसुभगे जललीनमीने।
चंद्रांशुहर्म्मतलचन्दनतालवृन्तहारोपभोगरहिते हिमदग्धपद्मे॥
निरुद्धवातायनमंदिरोदर हुताशनो भानुमतो गभस्तयः।
गुरूणि वासांस्यबलाः सयौवनाः प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम्॥
न चंदनं चंद्रमरीचिशीतलं न हर्म्यपृष्ठं शरदिंदुनिर्मलम्।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतला: जनस्य चित्तं रमयन्तिसाम्प्रतम्॥

कुछ अंग्रेज विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत सस्करणों में अशुद्ध-पाठ हो जाने से इस काव्य को श्री हीन सी हो गई। १८१४ संवत्सर में इस पर टीका लिखने वाले पण्डित मणिराम ने इस ग्रन्थ को अप्रचार तमोमग्न

बना कर उनके नाश के लिये 'चन्द्रिका'[1] का प्रणयन किया है।

विचारों की वास्तविकता, मधुर कोमल पदरचना, कवि-सम्प्रदाय के सरस अर्थों का निबन्धन, भिन्न-भिन्न प्राकृतिक दृश्यों का चमत्कारक स्वरूप-निरूपण, प्रकृति सुकुमारी के विभिन्न कमनीय-अङ्गों का मनहर आकर्षण-दर्शन यह सब 'ऋतुसंहार' की विशेषताएँ हैं। इस लघु ग्रन्थ के अध्ययन से कवि की रस-भरी काव्य-शक्ति और प्रकृति-सुन्दरी के प्रति अगाध प्रेम का परिचय पूर्णरूपेण प्राप्त होता है। ऐसा मालूम होता है कि कवि ने स्वप्न लोक में ज्योंही आँखें खोलीं उनके सामने शरद् की चाँदनी सी, शिशिर की कुहक-जालिका सी, वसन्त की मादक वनश्रीसी, ग्रीष्म की शीतल-जल-धारा सी और वर्षा की 'रिमझिम-रिमझिम'-नृत्य करनेवाली फुहियों-सी प्रकृति-बाला आकर खड़ी होगई और इस प्रथम-दर्शन को चिरस्थायी बनाने के लिये कवि ने उसकी नरम-कलाई में 'ऋतुसंहार' रूपी स्वर्ण का झनझनाता कंगन धीरे-से पहिना दिया। कल्पना के नन्दन-निकुञ्ज में 'ऋतुसंहार' वासन्तिक प्रभात-पवन का पहला झोंका है जो मन-मधुप को प्रतिभा-पाटल-कली के चटुल-चुम्बन के लिये विह्वल कर देता है। चिरकाल से पड़ी हुई सरस्वती की वीणा को कवि ने झनझना दिया और उसका प्रथम-अनुरणन या प्रथम-झंकार 'ऋतुसंहार' ही है। यदि कालिदास कविता-कुमारी के स्वयंसिद्ध 'कामतन्त्रसचिव' थे तो 'ऋतुसंहार' उनका प्रथम 'कामा-नुशासन' है। ऋतुसंहार गंम्भीर 'जलधि' नहीं—कमल-चञ्चल 'सरोवर' है, भूखण्ड व्यापी गहन- 'वन' नहीं—मकरन्द-मेदुर नन्हा-सा 'नन्दन-

---

१ 'अप्रचारतमोमग्ना, कालिदासकृतिर्यतः ।
क्रियतेऽतश्चन्द्रिकेयं, विबुधानन्ददायिनी ॥
—ऋतुसंहार प्रथमसर्ग की टीका के आरम्भ में

निकुञ्ज है, सजाया हुआ 'पुष्पस्तबक' (गुलदस्ता) नहीं गुलाब की सहमती-सिहरती कोमल-'कली' है, सन्ध्या की 'लालिमा' नहीं-उषा की 'अरुणिमा' है, भूर्जपत्र पर अंकित आम्नाय शाखा नही वह तो बकुल-मञ्जरियों पर लिखा हुआ 'वशीकरण मन्त्र' है।' शरद् की निशीथ-बेला हो, चाँदनी का पानी ससार पर सहस्र धारा से झरता हुआ अमराइयो के पत्तों से छन-छन कर वसुमती के अञ्चल में मुसकरा रहा हो और सामने साफ शीशे की तरह-मुक्तारेणु की तरह स्वच्छ-जल-वती एक नन्हीं-सी निर्झरी 'सौभाग्यरात्रि के लिये जाने वाली राग- अनुराग-भरी नव-किशोरी' की भाँति संकोचपूर्वक ढल रही हो; यदि उस समय कहीं दूर से कानों मे 'वंशी की धुनि' आ जाय तो!—बस ठीक वैसी ही 'टीस', वैसी ही वेदना और वैसी ही मीठी कसक 'ऋतुसहार' के नन्हें-नन्हे शब्दों में भरी पड़ी है।

'ऋतुसंहार' सुभाषित-रत्नों की मूल्यवती मञ्जूषा है, भाषा-भामिनी का भाल-तिलक है, भाव-मधुरिमा का स्वर्णिम पानपात्र है; और है वह श्रृङ्गाररस का हृदयहारी निःस्यन्द। ऋतु संहार के पद्य-प्राङ्गण में मधुवाणी रूपी नर्तकी ठुमकती है, रिझाती है। आइये, आप भी अपने हृदय को तृप्त करिये—

सब से पहले ग्रीष्म का आनन्द लीजिये—

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचंद्रमाः, सदावगाहक्षतवारिसञ्चयः।
दिनांतरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो, निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये॥
निशाः शशाङ्कक्षतनीलराजयः, क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्रमन्दिरम्।
मणिप्रकाराः सरसं च चंदनम्, शुचौ प्रिये यान्ति जनस्य सेव्यताम्॥
समुद्गतस्वेदसिताङ्गसन्धयो विमुच्य वासांसि गुरूणि साम्प्रतम्।
स्तनेषु तन्वंशुकमुन्नतस्तना, निवेशयन्ति प्रमदाः सयौवनाः॥

सचन्दाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः, सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः ।
सवल्लकीकाकलिगीतनिस्वनै, विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः ॥
सितेषु हर्म्येषु निशासु योषितां, सुखप्रसुप्तानि मुखानि चंद्रमाः ।
विलोक्य नूनं भृशमुत्सुकाश्चिरं, निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम् ॥

अर्थात् सूर्य का ताप प्रचण्ड हो उठा है, चन्द्रमा प्रिय लगते हैं, निरन्तर स्नान करने से नद-नदियाँ आविल रहती हैं, साँझ की बेला बहुत ही मन लुभाने वाली होती है, काम-भाव शान्त रहता है—ऐसा यह ग्रीष्म-ऋतु का काल है।

आज कल चन्द्रकिरणों से अन्धकार-हीन उजली रातें सहस्र धाराओं से शीतल-जल-कण बरसाने वाले विचित्र-फौहारों से सुशोभित मकान, अनेक प्रकार के मणि-माणिक और द्रव-बहल चन्द्रलेप आदि वस्तुएँ सुख देती हैं। पसीने से तर-बतर हो जाने से बचने के लिये इस समय उन्नत-उरोजवती युवतियां शरीर पर उज्ज्वल और झिल-मिलाती हलकी साड़ी पहिना करती हैं।

चन्दन-जल से छिड़क कर पंखों की ठण्डी हवा से, हार-शोभित स्तन-मण्डल के अर्पण से तथा वीणा-वादन के साथ गाये गये मधुर गीतों से मानो इस समय कामदेव जगाया-सा जा रहा है। ऊँचे और सफेद महलों की छतों पर सोई हुई ललनाओं की मुग्ध मुख श्री का दर्शन कर चन्द्रमा उत्कण्ठित-सा होता हुआ निशा के अवसान में लज्जा के मारे सफेद-से पड़ जाते हैं !! इस वर्णन से पाठक अनुमान कर सकते हैं कि प्रस्तुत रचना में यौवन-वेला के रस-भिने प्रहर की उद्दाम-वासना का निःशृङ्खल किंवा निर्बाध नृत्य है। इसके अतिरिक्त ग्रीष्म-वर्णन की परम्परा का पालन करने के लिये इस प्रसङ्ग में घोर झञ्झावात, तृषा- रिशुष्क, तालु मृगों का धावन, मयूर के नीचे सर्प का आश्रय लेना, सर्प की फण की छाया में मण्डूक का सुख-शयन, निर्जल सरोवरों

से हंसों का उड़ जाना, आदि विविध उपादानों का भी संग्रह किया गया है। उपरि-लिखित पद्यों के पढ़ने में यह विशेषता तो स्पष्टतः सामने आ जाती है कि छोटे-छोटे शब्दों में अधिक से अधिक बातें, सुन्दरता पूर्वक कहने की चेष्टा की गई है। ग्रीष्म का दिनान्त जितना रमणीय होता है। उसकी व्यञ्जना 'दिनान्तरम्यः' से पूर्ण कर दी गई है। इस 'दिनान्तरम्यः' का ही भाष्य 'महाकवि हरिऔधने' कितनी अच्छी प्रणाली से किया है—

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखा पर थी अब राजती, कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥[1]

कवि का वर्णन अलंकृत तो है ही—कहीं कहीं स्वभावोक्तियों से और भी जगमगा उठा है। ग्रीष्म प्रसंग का ही उदाहरण लीजिये—

श्वसति विहगवर्गः शीर्णपर्णद्रुमस्थः; कपिकुलमुपयाति क्लान्तमद्रेर्निकुञ्जम्।
भ्रमति गवययूथस्सर्वतस्तोयमिच्छन्; शरभकुलमजिह्मं प्रोद्धरत्यम्बुकूपात्॥

× × ×

ज्वलति पवनवृद्धः पर्वतानां दरीषु; स्फुटति पटुनिनादैः शुष्कवंशस्थलीषु।
प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धिः क्षणेन, ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलग्नो दवाग्निः॥

वृक्ष के पत्ते पीले पड़ कर झर गये हैं—उसके ठूंठ पर पक्षि-समुदाय गरमी से व्याकुल होकर सांस ले रहा है। लू की लपट से बचने के लिये बानरों की मण्डली ने पहाड़ों की गुहाओं में आश्रय ले रखा है, नीलगायों का झुण्ड पानी की खोज में चारों ओर घूम रहा है, शरभ पक्षी अधिक प्यास के मारे कुएँ की तलहटी में जाकर प्यास बुझाते हैं!

वन में लगी हुई आग पवन का झकोरा पाकर पहाड़ों की कन्दराओं

---

[1] 'प्रियप्रवास' का प्रथम-पाद्य

में जल उठी, सूखे हुए बांस 'तड़-तड़-तड़-तड़' की आवाज करने लगे और पल मारते तिनकों के समूह को भस्म करती हुई हरिणों के यूथ को आंच से व्याकुल करने लगी।

ग्रीष्म-काल की प्रकृति का कैसा स्वाभाविक वास्तविक चित्रण है!

इसके बाद 'वर्षा की बहार' इस प्रकार दिखलाई गई है—

तृषाकुलैश्चातकपक्षिणाकुलैः, प्रयाचितास्तोयभरावलम्बिनः।
प्रयान्ति मन्दं बहुधारवर्षिणो, बलाहकाः श्रोत्रमनोहरस्वनाः॥

× × ×

कदम्बसर्जार्जुनकेतकीवनं, विकम्पयंस्तत्कुसुमाधिवासितः।
ससीकराम्भोधरसङ्गशीतलः, समीरणः कं न करोति सोत्सुकम्॥

× × ×

मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्तात्, पवनचलितशाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव।
हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां, नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्ताः॥

स्वाती-बिन्दु के प्यासे चातकों से याचित होकर, जल-भार से नीचे लटक कर, कर्ण-रमणीय गर्जन से आनन्दित करने वाले बहुधारवर्षी बादल आ गये!

कदम्ब-देवदारु-केवड़े-आदि के वन को कँपाता हुआ उनकी सुरभित से सुरभित सजल जलधरों के संग से शीतल समीर किसको नहीं उत्कण्ठित करता है!

यह मनोहर वन-प्रदेश फूले हुए कदम्बों के बहाने प्रसन्न-सा है! पवन से चञ्चल डालियों वाले वृक्षों के बहाने नाचता-सा है और केवड़ों के कांटों के मिस हंस-सा रहा है!

मालूम होता है कि प्रकृति की निसर्ग-रमणीयता के समक्ष कवि का कण्ठ अपने आप फूट पड़ा है।

शरदागम का परिचय कराया जा रहा है—

काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो, हंसैर्जलानि सरितांकुमुदैः सरांसि ।
सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः, शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ॥
व्योम क्वचिद्रजतशङ्खमृणालगौरैः, त्यक्ताम्बुभिर्लघुतया शतशः प्रयातैः ।
संलक्ष्यते पवनवेगचलैः पयोदैः, राजेव चामरवरैरूपवीज्यमानः ॥
सम्पन्नशालिनिचयावृतभूतलानि, स्वस्थस्थितप्रचुरगोकुलशोभितानि ।
हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि, सीमांतराणि जनयंति नृणां प्रमोदम् ॥

कास-पुष्पों से पृथिवी, सुधांशु-किरणों से रातें, हंसों से नदियों के प्रवाह, कोइयों के फूलों से सरोवर, कुसुमों के गुच्छों से नत सप्तच्छदों से वन-प्रदेश और मालती-की खिलखिलाहट से उपवन उज्ज्वल हो उठे हैं।

कहीं-कहीं आकाश का कोई उज्ज्वल-खण्ड राजा के समान शोभा-यमान है और चाँदी-शङ्ख कमलनाल से गौर, जलभार-हीन होने से हलकी गति से सैकड़ों की संख्या में पवन-वेग से उड़नेवाले बादलों के टुकड़े उसके चाकर-से प्रतीत होते हैं।

गाँवों के सीमा-प्रदेश कितने रुचिर हैं—

कोसों तक हरे-भरे, नील-नील, आमोद-मेदुर, मस्ती में झूमते हुए धानों से धरती छिप गई है, मांसल-पुष्ट-गोओं के झुण्डों से शोभाय-मान सारसों तथा हंसों के कलकल से मुखरित 'सीवानों' की छटा देखते बनती है !

हेमन्त की अनन्त-सुषमा के प्रदर्शन के पश्चात् शिशिर का एक ही दृश्य देखिए।

अपगतमदरागा योषिदेका प्रभाते, कृतनिबिडकुचाग्रा पत्युरालिङ्गनेन ।
प्रियतमपरिभुक्तं वीक्षमाणा स्वदेहं, व्रजति शयनवासाद्वासमन्यद्धसन्ती ॥

इस पद्य का अर्थ मेरी नीरस-लेखनी क्या लिख सकेगी-पाठक इसका आनन्द-हिन्दी के प्रसिद्ध-कवि पटना-निवासी श्री पंडित शिवप्रसाद पाण्डेय 'सुमति' के मधुर-अनुवाद से लेने की कृपा करें—

"जागि सुमुखि भिनुसरवां रतिगृह त्यागि,
झुकत उरज पिय गरवां दबि दबि लागि।
रजनि रमित रतिरनवां, निरखत गात,
दलकत कढ़त अंगनवा, मृदु मुसकात॥

इसके बाद तो मानिवी-मन-मोहन, प्रकृति का साकार-सौन्दर्य, ऋतुराज बसन्त अपने सच्चे रूप में अवतीर्ण हुआ है—

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं, स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषाः दिवसाश्च रम्याः, सर्वं प्रिये! चारुतरं बसन्ते॥
वापीजलानां मणिमेखलानां, शशाङ्कभासां प्रमदाजनानाम्।
चूतद्रुमाणां कुसुमान्वितानां, ददाति सोभाग्यमयं बसन्तः॥

वसन्त-लक्ष्मी की सर्वाङ्ग-कमनीयता 'सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते' में समा गई है, और 'हे प्रिये'! इस सम्बोधन का क्या कहना है? वह तो समस्त वर्णन का प्राण-सा हो गया है!

लता-पादपों की फुनगियाँ फूलों से लद गई हैं। जल में कमल हिल-डोल रहे हैं। रमणियाँ काम-चञ्चल हो उठी हैं। धीर-समीर के झोंके सुगन्ध बगरा रहे हैं। रातें भली लगती हैं और दिन रमणीय हो उठे हैं।

वापियों, मणि-किङ्किणियों, चन्द्र-किरणों, प्रमदाओं और आम्र-मञ्जरियों को वसन्त ने सौभाग्य का वरदान दे रखा है।

आह! एक 'कान्ता-वियोग-खिन्न' की दशा तो देखने ही योग्य है—

'नेत्रे निमीलयति रोदिति याति शोकं,
घ्राणं करेण विरुणद्धि विरौति चोच्चैः।
कान्ता-वियोग-परिखेदित-चित्त-वृत्ति,
दृष्ट्वाऽध्वगः कुसुमितान् सहकारवृक्षान्॥'

एक प्रवासी बहुत दिनों के बाद अपनी प्रेयसी के मिलन के लिए आकुल हो कर चल पड़ा है पर मार्ग में अचानक वसन्त-सर्वस्व

'आम्र-कुञ्ज' उसकी दृष्टि में पड़गया–देखते ही उसकी विरह-व्यथा उत्तम हो उठी। फिर तो वह पथिक कभी दोनों नेत्रों को मींच लेता था! कभी रोता था! कभी उदास होता था, कभी मञ्जरी-पुञ्जकी अनुरञ्जक-सुरभि से बचने के लिये नाक बन्द कर लेता था और फिर कभी व्याकुलता के मारे रो पड़ता था!

इस प्रकार सारी रचना में कवि की लावण्य-आलुलायित यौवन-कालीन उद्दाम-वासना का मनोहर-परिचय मिलता है इन्हीं मधुर-कृतियों के कलाकार ने आगे चल चलकर 'कुमारसम्भव' 'मेघदूत' 'रघुवंश' आदि में विभिन्न प्रसङ्गों में अपनी ऋतु वर्णन-प्रियता का चित्र उतारा है।

खेद है, भारतीय-वाङ्मय में ऐसे–'अनुशीलक-चक्रवर्ती भी हैं जो मुक्त-कंठ से 'ऋतु संहार' को कालिदास की कृति न मानने में अपनी 'विदग्धता' का परिचय देते हैं, ऐसे 'रस-स्निग्ध हृदयों' की इस 'साहित्यिक परख' की प्रशंसा किन शब्दों में की जाय–यह तो 'सहृदय-शिरोमणि' बतायेंगे। मैं तो यही कह सकता हूँ—

'अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः 'तेषां' कथं घटितवानुपलेन चेतः'।

जिसे विधाता ने उन 'समालोचक-वरों' के अङ्गों में 'चम्पा की कलियों' की मृदुलता भरी है उसी ने उनके चित्त में 'पाषाण की कठोरता क्यों और कैसे भर दी!?

['कुमारसम्भव' की रचना ऋतुसंहार के बाद की गई है, ऐसा विद्वानों का मत है। इसमें कार्तिकेय की जन्मकथा का वर्णन है। शिव-पुराणोत्तरकाण्ड से समूची कथा तो कवि ने ली ही है, कहीं-कहीं पर भाव और श्लोक भी थोड़ा-सा परिवर्तन करके रख लिया है। इस काव्य की पठन-पाठन प्रणाली चिरकाल से संचालित है। इसमें आज-कल १७ सर्ग मिलते हैं। एकादश-शताब्दी तक की हस्तलिखित प्रतियों में पूर्व के ८ सर्ग तक ही काव्य मिलता है। मल्लिनाथ की टीका भी उतने

हा तक की प्राप्त है। आगे के सर्गों पर सीताराम नामक पण्डित की टीका है इस काव्य के आठ सर्गों के भीतर के ही श्लोक आलोचना-ग्रन्थों में उद्धृत किये गये हैं तथा आगे के सर्गों के श्लोकों में पूर्व-सर्गों के सदृश शैली का परिपाक भी नहीं मिलता। 'गौडेन्द्रच्छरडम्बर.' के अनुसार किसी वर कवि के कवित्व का आभास होता है। स्थान-स्थान-पर पद्यपूर्ति के लिये 'च' 'तु' 'हि' 'प्र' 'सु' की भरमार है। समास का बाहुल्य, बन्ध का शैथिल्य छन्दों का प्रसम-वैरूप्य आदि भी दृष्टि-गोचर होता है। इस काव्य पर २३ टीकाएँ प्राप्त होती हैं।

कवि ने सर्व प्रथम काव्य के आरम्भ में अपनी मजी हुई वाणी में हिमालय का मनोमोहक गान सुनाकर पर्यायोक्ति से भारतजननी के अखण्ड सौभाग्य का अभिनन्दन किया है। उसके पश्चात् पार्वती के जन्म से लेकर शिव के विवाह तक अभूतपूर्व सरम्भ के साथ यथाक्रम से रस का चढ़ाव-उतार दिखाया है 'कुमारसम्भव' ही वह काव्य है जिसमें सब से पहिले विषय के अनुरूप छन्द का निर्वाचन किया गया। कुमारसम्भव में जीवन के साथ कला के लालित्य का सयोग 'रत्न काञ्चनमन्वगात्' की स्मृति दिलाता है इसके ऐसा सौन्दर्य वर्णन तो विश्व के काव्य-रङ्गमञ्च पर दुर्लभ है। काव्य जीवनायमान ध्वनि, के नियमों से इस काव्य में दिव्य दाम्पत्य-प्रेम का जो उत्कृष्ट चित्र खींचा गया है वह विस्मयावह है।

पार्वती की जगमग जवानी का कैसा निरूपण है—

असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं, बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे॥
उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं, सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि, वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥

अर्थात् यौवन, अंग-लता का अयत्न-सिद्ध अलङ्कार है। आसव-

पान के बिना ही मदोन्मत्त करनेवाला साधन है और पुष्प के अतिरिक्त कामदेव का कोई नया बाण है !

उस यौवन को पाकर पार्वती का शरीर वैसे ही खिल उठा जैसे तूलिका से रंग भर देने पर चित्र चमक उठता है और सूर्य-किरणों के स्पर्श से कमल विकसित हो उठता है !

इन दो श्लोकों में जो सौन्दर्य आंका दिया गया है वृद्ध के वर्णन के लिये 'माघ-भारवि' को कौन कहे 'उत्तरोत्तर युक्तियों के महाम्भोधि' श्रीहर्ष ने कोसों 'घोड़े' दौड़ाये हैं पर इस बूंद से भेंट न हुई। इसके आगे भी पार्वती की, सलीलगतिमती जघनस्थली, तन्वी नवरोमराजि, काम-सोपान-श्रेणी सी त्रिबली, मृणासूत्रान्तरालभ्या स्तनद्वयी, शिरीष पुष्पाधिकसौकुमार्यवती बाहु' शलाकाञ्जननिर्मिता भ्रू-कान्ति आदि का उल्लेख करते हुये कवि ने अपनी प्रतिभा-किशोरी का मुग्ध-नर्तन दिखाया है। फिर भी उनको सन्तोष नहीं हुआ है। उन्होंने लिखा है—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥

यदि बाल-किसलय के वृन्त पर फूल खिला हुआ हो, यदि चमाचम मूंग पर मुक्ताफल शोभित हो रहा हो तब कहीं पार्वती के अरुण अधर पर खिलने वाले मन्दहास की कुछ उपमा दी जा सकती है। सौन्दर्य के इस 'रेखाचित्र' का अंकन कितने चित्रकार कर सकते हैं।

इन्द्र तारक-असुर के द्वारा किये गये देवों पर अत्याचार को देख कर क्षुब्ध हो उठते हैं। ब्रह्मा भी कुछ उपाय नहीं कर सकते। उन्होंने ही तो तारक को इतना बल-वैभव दिया फिर वे ही उसका नाश कैसे कर सकते हैं—

'विषवृक्षोपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'

अन्त में यही निश्चित होता है कि भगवान् शंकर जो कि इस समय

समाधिमग्न हैं पर्वतराजपुत्री पार्वती का पाणिग्रहण कर लें तो उन दोनों से उत्पन्न पुत्र तारक का संहारक होगा। इस संकल्प की सिद्धि के लिये देवराज इन्द्र ने 'पुष्पधन्वा' को आमन्त्रित किया। उसको सदलबल के साथ शंकर को पार्वती के प्रति मुग्ध कर देने के लिये भेज भी दिया। एक अद्भुत गन्धर्वनगर शंकर के समाधि-स्थान में सुसज्जित हो गया। अशोक-तरुओं की शाखाओं में 'प्रमदा-पादताडन' के बिना ही अचानक नवीन-नवीन पल्लव और पुष्प खिल उठे! बाल-रवि की ललाई आम्र किशलयों पर छलक उठी। 'चूताकुरास्वादकषायकण्ठ पुंस्कोकिलों' के कुहू-रव से महान् मनस्वियों का भी मन डिग उठा! इस अकालिक बसन्त आगमन में मानसिक-विकारों से विरले ही बच सकते थे! किन्नर गन्धर्वों की कौन कहे लता-बधू और वृक्ष-वरों ने भी कसकर भुजबन्धन का आनन्द लिया! आह! पर इस 'बसन्त के वात्याचक्र' में भी भगवान् किस प्रकार 'समाधि' हैं—सारा वन चित्र-लिखित सा परमशान्त है—वृक्ष हिलते तक नहीं—भौरों ने गुनगुनाना बन्द कर दिया, पंछी चुपचाप हैं, मृग जहां के तहां खड़े हैं। और भगवान् शंकर तो संयम के अवतार ही ठहरे। देवदारु-वृक्ष के नीचे बेदी पर सिंह-चर्म के आसन पर 'पर्यङ्क-बन्ध' की मुद्रा में आसीन हैं। जटाओं में भुजङ्ग फुफकार रहे हैं। कर्णों में दोहरी रुद्राक्षमाला पड़ी हुई है। कण्ठ तो नीला है ही शरीर पर भी काले मृग का चर्म पड़ा हुआ है। कपाल से ब्रह्मज्योति फड़क रही है। नवद्वारों से मन की चंचलता को जकड़ कर अक्षर-ब्रह्म का ध्यान हो रहा है। योगी का यह स्वरूप कितना विचित्र है मानों अनुभव हो रहा है कि बिना बरसनेवाला उमड़ता हुआ बादल है या तनिक-भी नहीं हिलता-डोलता महा-तड़ाग है अथवा निर्वात-स्थान का कम्पन-हीन प्रदीप है! उसी योगी के समक्ष 'बसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' 'पार्वती संचारिणी पल्लविनी लता' की भाँति आती हैं। सत्-असत् का

काम, प्रकाश का कैसा द्वन्द्व है। पार्वती का रूप भी साधारण नहीं है। 'बकुलमञ्जरी की कटिकिंकिणी' उन्होंने पहिन रखी है मानों उनके कटि में काम ने अपने धनुष की दूसरी मौर्वी को धरोहर रूप में रख दिया है। अधर-रस की पियासा से आकुल अतएव आगमनोत्सुक भ्रमर को निवारित करने के लिये लीलारविन्द का प्रयोग करती हुई भी 'विभ्रम-लोल-दृष्टि' हैं! अचानक 'शंकर' की आंखें कुछ खुलती हैं। 'पार्वती' का सिर झुकना है कि प्रणाम करूं और ठीक उसी समय 'पुष्पधन्वा' के अमोघ धनुष पर 'सम्मोहन' नाम का बाण चढ़ जाता है। शंकर का आशीर्वाद पार्वती के लिये अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति (दूसरे से दुर्लभ पति को प्राप्त करो) के रूप में होता है। और उनका अभिशाप कामदेव को 'भस्मावशेष' कर डालना है।

'क्रोधं प्रभो! संहर संहरेति, यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति :
तावत् स बह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥'

इसके बाद कवि ने 'मोहपरायण' 'नव-विधवा' 'असह्यवेदना' 'वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी' 'विकीर्णमूर्धजा' कामदेव-वधू' रति का जो हृदय-वेधी अश्रु-वर्षक विलाप उपस्थित किया है वह करुणरस का एक अमूल्य निदर्शन है। एक प्रिया पत्नी जितना भी स्वाभाविक बातें कह सकती है—उसका यहां ललनाजनोचित संग्रह है। यह मेरा साधिकार मत है कि आज की विधवा के हृदय-पीडन में इससे अधिक उक्तियों का विन्यास नहीं मिलता है। लेखक के लिये यह दुःख का विषय है जिन पंक्तियों पर वह दिन-दिन आंसू बहा सकता है उनका आस्वादन अन्य रसिकों को नहीं करा सकता।

पार्वती तपस्या के लिये उद्यत होती हैं—मां 'मेनका' करती है--

'मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवताः, तपः क्व वत्से क च तावकं वपुः ।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं, शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः' ॥

बेटी! तुम्हारे घर में सभी देवताओं की मूर्तियां हैं उनमें जिसकी चाहो पूजा करो। कहां तपस्या जैसा कठोर-कार्य और कहां तुम्हारा सुकोमल शरीर! शिरीष का मृदुल-फूल भौंरों का भार सह सकता है कुछ पक्षी का भार नहीं—माता का ममतामय हृदय भी पुत्री को निश्चय से हटा नहीं सका। सच है—

'क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः, पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्।'

कौन है जो, मनचाही बात पर दृढ़-सकल्प-धारी चित्त को तथा नीचे ढलनेवाले जल के वेग को रोक सकता है! फिर तो गौरी हिमालय के शिखरिडमण्डित 'गौरीशंकर'-शृंग की ओर ही चली गई। 'हार' के बदले हृदय में भस्मभाररम गया, चीनांशुक के स्थान पर कुल बाला ने 'बालाकारुणबभ्रु' वल्कल पहिन लिया! किंकिणी की जगह 'मौन्जी मखला' ने ले ली, हाथों में अधर-रञ्ज लाक्षाराग पान न रह कर 'रुद्राक्षमाल्य' रहने लगा, 'महार्हशय्या' का त्याग होकर 'स्थण्डिल' पर शयनारम्भ हुआ, कुछ दिनों के लिए पार्वती ने अपनी विलास लीला को लताओं में, चञ्चल कटाक्ष को हरिणियों में रख कर स्वयं 'ललाटिकाचन्दनधूसरालका' बन ले लिया! उस समय कवि ने एक बड़े ही मार्मिक स्थल को अपनाया है! अवश्य ही पाठक अपने देश के सर्वश्रेष्ठ कवि की वाणी का स्वाद लेंगे।

× × ×

एक दिन पार्वती के आश्रम में ब्रह्मतेजःपुंज से प्रकाशमान, मृग चर्मधारी, जटालुलितमुखमंडल, मूर्तिमान् ब्रह्मचर्याश्रम की भांति एक ब्रह्मचारी पहुँचा। स्वागत पाने के बाद उसने प्रगल्भ-वाणी से पार्वती का कुशल-मंगल विभिन्न प्रकार से पूछ उनकी प्रशंसा इन शब्दों में की—

विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिः, तथा न गाङ्गैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलैः महीधरः पावित एष सान्वयः॥

हे पार्वति ! यह पर्वतराज हिमालय सप्तर्षियों के पुष्पोपहार से या आकाशगगा के सलिल-प्रवाह से उतना नहीं पावन हुआ जितना कि तुम्हारे निर्मल चरित्रों से हुआ है ।

हे तपोधने ! मुझे एक जिज्ञासा है–उसका उत्तर भी सुनना चाहता हूँ–

हिरण्यगर्भ के वंश में जन्म, त्रिलोक के सौन्दर्य-सार सा शरीर, अनायास-प्राप्त सुख-सम्पद्, और नई अवस्था यह सब कुछ तुम्हे प्राप्त है–इस कठोर-तप से अब तुम कौन फल चाहती हो । मनस्विनी मानवती ललनायें कभी-कभी अपमान-क्षुब्ध होकर भी ऐसा कठोर तप करती हैं परन्तु तुम्हारे लिए ऐसी बात भी तो नहीं है ।

कौन-सा कारण है कि यौवन के प्रथम-प्रहर में ही तुमने बृद्धों की भांति बल्कलवस्त्र पहिन लिया ! यदि तुम देव-लोक की प्राप्ति की चेष्टा कर रही हो तो यह भी बेकार है क्योंकि देवभूमियां तो तुम्हारे पिता के अधिकार में ही हैं । हां, तुम्हारे गरम-उच्छ्वास से कुछ-कुछ अनुमान कर रहा हूँ, पर वैसा कोई दुर्लभ पुरुष-रत्न नहीं दीखता कि जो तुम्हारे अनवद्य-रूप पर न रीझे और उसके लिए इतना कठिन तप करना पड़े । वह कौन-सा तरुण है, जो चिरकाल से कर्णोत्पल-शून्य कपोल-देश पर 'कलमाग्रपिंगला' और 'श्लथलम्बिनी' जटाओं की उपेक्षा कर रहा है । मैं तो तुम्हारे आकांक्षित प्रिय-युवा को 'भाग्यहीन' मानता हूँ कि जो तुम्हारी चंचल-कटाक्षवती आंखों का लक्ष्य नहीं बन रहा है । हे गौरि ! कुछ मैंने भी तप किया–उसका आधा भाग सहर्ष देता हूँ–अपने और मेरे तप को मिला कर उसके फल स्वरूप 'वर' को प्राप्त करो–पर वह कौन है–यह तो बताओ !

इस कुतूहल भरी वाणी का उत्तर पार्वती की सखी ने इस भांति दिया है–

यह पार्वती 'पिनाकपाणि पतिमाप्तुमिच्छति' पिनाकपाणि शंकर

को वरण करना चाहती हैं। उनके विरह में हिम-शिलाओं पर भी इसे आनन्द नहीं आता है। रात के तीन पहर बीतने पर ये कभी-कभी 'हे नील कठ ! कहा जा रहे हो' कहती हुई कंठ में बांहे डाल कर चौंक पड़ती हैं ![1] कभी चन्द्रशेखर का चित्र बना कर उनसे कहती हैं तुम तो 'सर्वान्तर्यामी हो' फिर मेरी ही बातें क्यों नहीं समझ पाते ? इस अवस्था में माता-पिता की आज्ञा से ये यहां तपस्विनी बनी हुई हैं पता नहीं इनका मनोरथ-नायक कब मिलेगा !

ब्रह्मचारी ने इतना सुनने पर भी 'हर्ष' के 'लक्षणों' को 'अव्यञ्जित' ही रखा और उमा से पूछा ? 'अयीदमेवं परिहासः' क्या यह सब मजाक में ही कहा गया है ? साक्षात् पार्वती को अब बोलना ही पड़ा। उन्होंने कहा—

हे वेदविदां वर ! आपने जो कुछ सुना, सब सत्य है, अवश्य ही यह तुच्छ जन उच्च-पद को लांघ जाना चाहता है और उसी के सिद्ध्यर्थ यह तप भी है क्या किया जाय 'मनोरथानामगतिर्न विद्यते' मन की इच्छाओं का कहीं ठिकाना नहीं !

× × ×

ब्रह्मचारी ने अपना मार्मिक-तीर इस भांति छोड़ा –

ओहो ! अब मालूम हुआ कि आप महेश्वर को चाहती हैं। लेकिन मैं तो ऐसा अमांगलिक-कार्य न होने दूगा। आप स्वयं विचार करें विवाह-वेला में कहा तुम्हारा वधू-अवस्था का क्षौम-अंशुक और कहाँ शंकर का शोणित-बिन्दुवर्षी गज-चर्म ! भला इन दोनों का ऐक्य कैसे हो सकता है ![2] तुम्हारा शत्रु भी नहीं यह चाह सकता कि फूलों के

---

१ त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं, निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत।
क्व नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना॥

२ स्वमेव तावत् परिचिन्तय स्वयं, कदाचिदेते यदि योगमर्हतः।
वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं, गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च॥

बिछौने पर रखने योग्य तुम्हारे अलक्तकाङ्कित पांव मृतकों के रुण्ड-मुण्ड-केशों से पटी हुई श्मशान भूमि में पड़ें! आह? इससे बढ़कर खराब क्या होगा कि तुम्हारे हरि चन्दनचर्चित स्तन-युगल पर त्रिनेत्र के वक्ष का 'चिताभस्म' भर उठे!

और तो और विवाह के बाद त्रिलोचन के साथ जब तुम बूढ़े बैल पर बैठोगी तब वृद्ध- जन तुम्हें देख हँसने लगेंगे—क्या मामूली विडम्बना होगी। हे गौरि! नभ की चन्द्र-कला पिनाकी के आश्रित थी—यह ही शोचनीय था—अब तो लोक-नेत्र-कला तुम भी उनके पास जाना चाहती हो—इससे बढ़कर क्या खेद का विषय होगा। अधिक क्या कहूं, उनका शरीर विरूपाक्ष' ही ठहरा' किसके पुत्र हैं-इसका तो कुछ पता ही नही, नग्न रहने से ही उनके धन का भी प्रमाण मिल ही जाता है, तो हे बाल- हरिण-लोचने! वर के समस्त गुणों को क्या कहें—एक गुण भी तो नहीं हैं: कहां तुम्हारा जैसी पुण्य-लक्षणा और कहा 'त्रिनेत्र' जैसा विकृत-रूप—तुम इस घोर-दुःखदायिनी इच्छा से अपना मन हटा लो।

बस, इतना सुनते ही पार्वती के नेत्र लाल हो उठे और उन्होंने क्या उत्तर दिया— मैं यही सुनाना चाहता था।

उवाच चैन परमार्थतोहर, न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्।
अलोक्यसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्॥
विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं, निषेव्यते भूति समुत्सुकेन वा।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः, किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः॥
अकिंचन सन्प्रभवः स सम्पदां, त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते, न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः।
विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगिवा, गजाजिनालम्बिदुकूलधारि वा॥

कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं, न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ।
तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते, ध्रुवं चिताभस्म रजोविशुद्धये ॥
तथाहि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं, विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ।
असम्पदस्तस्य वृषेण गच्छतः, प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा ।
करोति पादावुपगम्य मौलिना, विनिद्रमन्दारजोरुणाङ्गुली ॥
विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम् ।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं, कथं सलक्ष्यप्रभवो भविष्यति ॥
अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया, तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः ।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं 'न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते' ॥

हे ब्रह्मचारिन्! अवश्य ही तुम भगवान् शंकर को अच्छी तरह नहीं जानते हो इसीलिये तुमने ऐसी बातें कहीं, यह सभी जानते हैं कि मद बुद्धि व्यक्ति महात्माओं के लोकोत्तर-चरित्र को ठीक-ठीक न जान कर उनसे द्वेष किया करते हैं। उनके अमांगलित वस्तुओं के प्रेम के प्रति जो तुमने बात कही वह भी तुच्छ है। भला संसार का मंगल करने-वाले व्यक्ति के प्रति यह आक्षेप लगता है। वे एक ओर अकिंचन हैं, तो दूसरी ओर सम्पत्तियों के प्रभवस्थान भी हैं, यदि वे एक ओर श्मशान वासी हैं, तो दूसरी ओर त्रिलोकनाथ भी हैं। यदि वे भयानक रूपधारी हैं, तो दूसरी ओर कल्याणमय शिव भी हैं। सची बात तो यह है कि उनका असली तत्व जानना बड़ा ही कठिन है। वे विश्वरूप हैं वे चाहे तो चन्द्रमा का मुकुट पहने और यदि चाहें तो अंग-अंग में साँपों को लपेट लें। यदि वे चाहें तो गज-चर्म पहने और यदि चाहें तो बहुमूल्य दुकूल धारण करें। वे यदि चाहें तो मुंड माला धारण करे या भस्म रमा लें—वे स्वेच्छानुसार सब कुछ कर सकते हैं। चिता का भस्म भी उनके अंग संसर्ग से पवित्र हो जाता है, नहीं तो ताण्डव नृत्य के समय उनके अंग से गिरी हुई भस्म को उठा कर देवता लोग ललाट पर क्यों

लगाते। अकिंचन वेश में वृषभ पर चढ़े हुए शंकर भगवान् के चरणों में देवराज इन्द्र अपना सिर झुका देते हैं। तब तुम्हीं कहो! इस महत्व में क्या रहस्य है। उनके दोष कथन करते हुए अचानक तुम्हारे मुंह से उनका एक गुण भी निकल पड़ा। स्वयंभुब्रह्माआदिक भी जिसकी वंदना करते हैं, भला उसके माता पिता के जानने की शक्ति किसमें है। अच्छा! तुमने जो कुछ कहा उन सब दोषों से शंकर भगवान् युक्त हैं— लेकिन मैं तन, मन, धन से उन्हीं को चाहती हूँ, मेरा हृदय तुम्हारे दृष्टि से दोषी होने वाले उन्हीं शंकर भगवान् पर मुग्ध हैं। इसमें किसी का क्या चारा।

इस अन्योन्य-तेजस्वी वाद-विवाद का अन्त आश्चर्य-जनक है। पार्वती ने देखा कि ब्रह्मचारी के होठ कुछ बोलना ही चाहते हैं—तुरन्त ही सखी को आदेश दिया—

निवार्यतामालि! किमप्ययं बटुः, पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोपभाषते, शृणोति तस्मादपि य स पापभाक्॥

सखि! इस वटु को यहां से अलग करो। जो महापुरुषों की निन्दा करता है; केवल वही नहीं पाप भागी होता किन्तु सुनने वाला उससे भी अधिक पाप का भागी होता है।

इतना कहने के बाद स्वयं ही उठ कर ज्यों अन्यत्र जाने की इच्छा की कि—

'समाललम्बे वृषराजकेतनः'

वह ब्रह्मचारी साक्षात् देवाधिदेव-शंकर के मोहक-रूप में परिणत हो उठा! कवि की कल्पना भी झूम कर लिखती है—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिः निक्षेपणाय पदमुद्धृतमावहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः, शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥

अङ्ग-अङ्ग सिहर उठे, शरीर रोमांचों से सान्द्र हो गया, आगे चलने के लिये 'शैलाधिराजतनया' पाव उठा करके भी ठगी-सी रह गईं। शकर के प्रिय-दर्शन से उनकी वही दशा हुई जो वेगवती नदी की दशा मार्ग में पहाड़ के पड़ जाने से होती है। क्या अमर-पक्ति है—

'शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ'

बस! भगवान् शंकर का और पार्वती का यह मधुर-मिलन समस्त काव्य-रसिकों के जीवन को बल दे। कालिदास के स्वर में मुझ क्षुद्र का भी स्वर मिल जाये। इस प्रकार के कितने रस-सन्दर्भ इस काव्य में हैं यह तो रस-लोलुप कोविद्-मधुव्रतों की मधु-सेवा पर निर्भर है।

(३)

मेघदूत भारत का सर्वश्रेष्ठ गीतिकाव्य है। इसमें प्रायः ११८ 'मन्दाक्रान्ता' छन्द हैं। कदाचित् इस छन्द का इतना मनोहर प्रयोग और कहीं नहीं है इसी लिए मुग्ध-मन से 'कवि-शिरोमणि क्षेमन्द्र' ने प्रशस्ति पाठ किया है—

'सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गाति।
सदश्वदमकस्येव, काम्बोजतुरगाङ्गना।'

कालिदास के वश में आकर 'मन्दाक्रान्ता' भी उसी भांति फड़कती हैं जिस भांति किसी अच्छे घोड़सवार के हाथ में पड़कर काबुली घोड़ी। इस रचना में सभ्यता के अरुणोदेय-कालीन आर्य-गान का आभास मिलता है। इस पर ३२ टीकाये हैं। मल्लिनाथ की संजीवनी सर्वोत्तम टीका है। इसकी लोक-प्रियता का अनुमान इसी से होता है कि जैन पण्डित 'जिनसेन' इसके पद्य का एक-एक चरण लेकर समस्यापूर्ति के ढंग पर 'पार्श्वाभ्युदय' नामक काव्य ही रच दिया है। १२ वीं सदी के नामाङ्कित कवि 'धोयी' ने इसी के अनुकरण पर 'पवनदूत' का निर्माण

किया है। यों तो सैकड़ों काव्य इनके नाम पर 'हंसदूतम्' 'शुकदूतम्' आदि निकले और निकलते जा रहे हैं। कहा जाता है कि रस-परिपाक की दृष्टि से 'मेघदूत' विश्व-साहित्य में 'अनन्वयालङ्कार' का उदाहरण है। जर्मन कवि 'शिलर' ने मेघदूत पढ़ने के बाद ही अपने 'Moria Stuart' काव्य में बन्दीगृह में पढ़ी स्काटलैण्ड की रानी से मेघ को दूत बना कर उसके द्वारा स्वदेश को सन्देश भेजवाया है। यह मत सर्वथा सत्य है कि 'मेघदूत' काव्य के जोड़ का कोई भी दूसरा ग्रन्थ सारे संसार के करुणरसप्रधान साहित्य में नहीं है।[1] तथा ग्रीस के महाकवि 'होमर' की शोभा, 'वर्जिल' की कोमलता, फ्रांस-महाकवि 'ओविड' की विलासिता और इंग्लैण्ड के चूड़ामणि 'शेक्सपियर' की गम्भीरता—इन सबों का—मेघदूत काव्य में अतिसुन्दर संगम है।[2] सुनते हैं बौद्ध लोग भी इससे प्रभावित हुये। सिंघली भाषा में इसका एक अनुवाद उपलब्ध है तथा तिब्बती भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ था।

'मेघदूत' एक प्रकार से कल्पना-लोक की अप्सराओं का मधुर-वर्णन है। बिछुड़े हुए दो हृदयों की अनुपमेय गाथा है। इस काव्य में प्रयुक्त शब्द इन्द्रधनुष से कम मोहक नहीं हैं। ओज और मार्दव, संयोग और वियोग, हास और रुदन, सुख और दुःख इसमें दूध-मिश्री की भाँति घुल मिल गए हैं। मेघदूत के आन्तरिक-सौन्दर्य से प्रभावित होकर अनेक सहृदयों ने अपनी अपनी भाषा में-इसका अनुवाद किया है-राष्ट्र-भाषा हिन्दी में प्रायः ५-६ अनुवाद प्रस्तुत हैं। इसमें एक अनुवाद-संस्करण तो बहुमूल्य-चित्रों, पुष्ट पृष्ठों और कलामय मुद्रण से सुसज्जित किया गया है। पर, मेरे विचार से इस प्रकार के अनुवाद, स्पष्ट-शब्दों में—

---

[1] हियोलिट फोशे (फ्रेंच विद्वान्)

[2] प्रोफेसर मोनियर विलियम्स।

'महिमा घटी समुद्र की, रावन बसा पड़ोस !'

इसी उक्ति के पात्र हैं। मल्लिनाथ जैसे टीकाकार, पूर्णसरस्वती जैसे आलोचना-प्रवण जिसके लिए 'मेघे गतं वयः' (मेघदूत पढ़ते पढ़ते जीवन बीत गया) 'या व्याचिकीर्षा मम तां नतोऽस्मि' (मेघदूत के व्याख्यान के लिये उत्पन्न अपनी इच्छा को नमस्कार करता हूँ) उस रस-सन्दर्भ का 'लगे हाथ' गद्य नहीं पद्य मे—अनुवाद कर देना 'अनधिकार चेष्टा' नहीं तो और क्या है।

'मेघदूत' के कथावस्तु के प्रति भी मल्लिनाथ के कथनानुसार[1] सब का यही विश्वास है कि 'वाल्मीकि रामायण' में जानकी के पास भेजे गये हनुमान, दूत द्वारा संदेश का ध्यान कर कालिदास ने इस काव्य की सृष्टि की तथा इतने के अतिरिक्त सारी बातें मौलिक हैं। यह भी एक प्रकार का शुद्ध साहित्यिक भ्रम है। अन्वेषण करने के समय 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में इस कथानक का अति-विषद अवलम्बन उपलब्ध हुआ है। कालिदास के काव्य-नाटक (ऋतुसंहार तथा 'मालविकाग्निमित्रम्' को छोड़ कर) पुराण या भारत के आधार पर विरचित हैं—यह देखते हुये 'मेघदूत' की भी संगति लग गई-यह साहित्य-प्रेमियों के लिये हर्ष का विषय है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण मे 'यक्ष' का नाम 'हेममाली' और उसकी स्त्री का नाम 'विशालाक्षी' है। अलकाधिपति 'कुबेर' के लिए प्रति दिन पुष्पचयन करना उसका कार्य था। हेममाली एक बार अपनी प्रिया के प्रेम-पाश मे पडकर पुष्प नहीं पहुंचा सका—मध्याहन् में देवपूजन के समय पुष्प न पाकर यक्षराट् कुबेर को क्षोभ हुआ और उन्होंने अनुचरों से हेममाली

---

[1] सीतां प्रति रामस्य हनूमत्संदेशं मनसि निधाय
मेघसंदेशं कविः कृतवानित्याहुः
—मेघदूत-(प्रथम श्लोक की टीका)

के सम्बन्ध में प्रश्न किया ? यक्षों ने उत्तर दिया—वह तो 'वनिता-कामुक' होकर घर में 'स्वेच्छया' रम रहा है। इसको सुनकर रोष-संसक्त-लोचन होकर कुबेर ने शाप दिया 'रे पाप ! रे दुष्ट ! रे दुर्वृत्त ! तू इस देव-हेलन के अपराध मे कुष्ठ-युक्त होकर 'कान्ता-वियोग' का दुखः भागी बन।'[1]

---

[1] अलकाधिपतिर्नाम्ना, कुबेरः शिवपूजकः।
तस्यासीत् पुष्पवटुको, हेममालीति नामकः॥
तस्य पत्नी सुरूपा च, विशालाक्षीति नामतः।
स तस्यां स्नेहसंयुक्तः, कामपाशवशं गतः॥
मानसात् पुष्पनिचयं, आनीयस्वगृहे स्थितः।
पत्नीप्रेमसमायुक्तो, न कुबेरालयं गतः॥
कुबेरो देव-सदने, करोति शिवपूजनम्।
मध्याह्नसमये राजन् ! पुष्पाणि प्रसमीक्षते॥
यक्षराट् प्रत्युवाचाथ, कालातिक्रमकोपितः।
कस्मान्नायाति हे यक्षाः ! हेममाली दुरात्मावान्।
निर्णयः क्रियतामस्य, प्रत्युवाच पुनः पुनः॥

यक्षा ऊचुः

वनिता कामुको गेहे, रमते स्वेच्छया नृप !
तेषां वाक्यं समाकर्ण्य, कुबेरः क्रोध-पूरितः॥

× × × ×

तं दृष्ट्वा धनदः क्रूरो, रोषसंसक्तलोचनः।
प्रत्युवाच रुषाविष्टः, कोपाद्विस्फुरिताधरः॥
रे पाप ! दुष्ट ! दुर्वृत्त, कृतवान् देव-हेलनम्।
अतो भव श्वित्रयुक्तः, वियुक्तः, कान्तया सदा॥—ब्रह्मवैवर्तपुराण

सूक्ष्म-रूप से स्पष्ट ही यह कथा मेघदूत का मूल-रूप वन गई है। पर उसके भावों का रसानुवन्धी निवन्धन तो कवि की अपनी मौलिक कल्पना का चमत्कार है! मेघदूत चैत्र-चन्द्रिका सुरीला स्वर है। सौरभ, संगीत, सुमन, सुख, सौभाग्य, सम्पद्, और सरसता का सांकेतिक समागम है हिन्दी-वाङ्मय के 'आचार्य-युग' के अन्तिम और चिरस्मरणीय प्रतिनिधि पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में बहुत ही उत्तम-प्रवचन इस प्रकार दिया है—

"कविता-कामिनी के कमनीय-नगर में कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य-भवन के सदृश है जिसमें पद्यरूपी अनमोल रत्न जड़े हैं— ऐसे रत्न, जिनका मोल 'ताजमहल' में लगे हुये रत्नों से भी कहीं अधिक है। ईंट और पत्थर की इमारत पर जल-वृष्टि का असर पड़ता है, आँधी-तूफ़ान से उसे हानि पहुँची है, विजली गिरने से वह नष्ट-भ्रष्ट हो सकती है, पर इस अलौकिक भवन पर इनमें से किसी का कुछ जोर नहीं चलता। न वह गिर सकती है, न घिस सकती है, न उसका कोई अंश टूट सकता है। इसे अजर भी कह सकते हैं, अमर भी। मेघदूत सर्वोत्तम कविता का एक अच्छा नमूना है। इस काव्य में शृंगार और करुण रस के मिश्रण की अधिकता है।[1]

प्रेम की महिमा अकथनीय है। जिसने उसे कुछ भी जाना है वह कालिदास के मेघदूत के रहस्य को जान सकेगा। परंतु, जो लोग उस रास्ते से नहीं गये, उनके मनोरञ्जन और आनन्द की सामग्री मेघदूत में है। पर्वतों के ऐसे दृश्य आप देखेंगे जिन्हें वर्षा ऋतु में केवल वही देख सकेंगे जो पर्वतवासी हैं या जो विशेष करके इसी निमित्त पर्वतों पर

---

[1] 'कालिदास' (इण्डियन प्रेस-संस्करण; प्रथम संस्करण) पृष्ठ १६६।

जाते हैं। दशार्ण की केतकी कभी आपने देखी है ? उस प्रान्त के उपवनों में चमेली की कलियों को चुनने वाली पुष्पलावियों से आपका कभी परिचय हुआ है ? नहीं, तो आप मेघदूत पढ़िये। उज्जैन की यदि आप सैर करना चाहें, उदयन का यदि आप कीर्तिगान सुनना चाहे तो आप और कहीं न जाइए। आप सिर्फ़ मेघदूत पढ़िये। प्राचीन दशपुर, प्राचीन ब्रह्मावर्त, प्राचीन कनखल, प्राचीन अलका के दर्शन अब दुर्लभ हैं, तथापि उनकी छाया मेघदूत में है। पाठक ! आपने इनको न देखा हो तो, मेघदूत में देखिए।

नारी सुलभ भावों को प्रकाशित करने के लिए कवि ने मेघदूत में विभिन्न स्थानों पर 'अबला' 'प्रिया' 'वनिता' 'पत्नी' 'अंगना' 'वधू' 'स्त्री' 'युवति' 'रमणी' 'कलत्र' 'योषित्' कामिनी' 'सखी' 'सहचरी' आदि शब्दों का उपयुक्त प्रयोग करके अपने कमनीय कला-विलास का परिचय दिया है। कालिदास' के यक्ष-सा आर्त-प्रेमी साहित्य-लोक में अन्यत्र है कि नहीं—इसमें सन्देह है। यक्ष जानता है कि यह मेघ 'धूम ज्योतिः-सलिल-मरुतां सन्निपातः' है फिर भी कुटज-अर्घ्य देकर प्रार्थनाकरता है-

सन्तप्तानां त्वमसि शरणं'—तुम मुझ जैसे दुःखियों के शरण्य हो। देखो, कितना अच्छा शकुन हो रहा है—

'मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वाम्
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः'

'प्रेम की पीर' में पागल यक्ष कहता ही जा रहा है—

'मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपम्
सन्देशं मे तदनु जलद ! श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्'

अपने जाने का मार्ग मुझसे जान लो फिर मेरा सन्देश भी सुनलेना।

"त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः"

के द्वारा मादक-कटाक्ष से अनभिज्ञ, भोली-भाली ग्राम-बालाओं के दृगों के दर्शन का हृदय-हर्षक आमन्त्रण देता है। उज्जयिनी-दर्शन कराने में यक्ष के कण्ठ में कवि ने भी अपना कण्ठ मिला दिया है—यद्यपि हे मेघ! तुम्हें रास्ता छोड़कर टेढ़े रूप में चलने का कष्ट उठाना पड़ेगा, फिर भी उज्जयिनी के सौध-विश्राम का मौका मत चूकना, अन्यथा—

"विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानाम्
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि"

क्योंकि 'उज्जयिनी' साधारण नगरी नहीं है, वह तो—

"स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानाम्
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्"

अर्थात्—

अगर है विश्व में 'जन्नत कहीं पर
यहीं पर है, यहीं पर है, यहीं पर'

या

'यहि अमरन को ओक यही कहुँ बसत पुरन्दर'

हे मेघ! तुम धीरे-धीरे 'उस अलकापुरी' में पहुँच जाना वहाँ सदा-सर्वदा बाल-कामिनियां हाथ में लीला कमल, अलकों में कुन्दकली, मञ्जु-मुख पर लोध्र-मकरन्द-चूर्ण, वेणी-पाश में कुरबक, कानों में शिरीष के अङ्कुर, पहने रहती हैं! जहाँ का मानव अक्षय-यौवन-शाली रहता है। जहाँ पुण्य-कलह के अतिरिक्त अश्रु-पात का अनुभव नहीं होता, जहाँ

एक ही कल्पवृक्ष, विलासिनियों के लिए, परिधान-योग्य चित्र-विचित्र-अंशुक, नयन में विभ्रम-शिक्षक अञ्जन, पाँवों के तलवों के रंगने के लिए तरल लाक्षा-रस, और शरीर के विभिन्न आभरणों की तैयारी के लिए फूलों की ढेरी, का वितरण करता है। बस उसी पुरी में मेरी प्रेयसी का 'कृतकतनय' एक बालमन्दारवृक्ष' होगा। मेरे गृह में 'स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि' पर बैठा हुआ मेरी प्रिया के इशारे पर नीलकण्ठ शिञ्जन-मुखरित ताल-लय-सुभग नर्तन करता है। आह! मेरी प्रिया को देखोगे—उसका रूप क्या कहूँ—

तन्वी, श्यामा, शिखरिदशना, पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये, क्षामा, चकितहरिणीप्रेक्षणा, निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना, स्तोकनम्रा स्तनाभ्याम्,
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥

लेकिन तुम तो उसका विरहिणी-रूप ही देख पावोगे—

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य! निक्षिप्य वीणाम्,
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चित्,
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥

सबसे पहिले उस सुकुमारी से यही कहना कि तुम्हारा वियोगी प्रिय स्वस्थ है और तुम्हारा कुशल-मगल पूँछता है।

'अव्यापन्नः कुशलमबले! पृच्छति त्वां वियुक्तः' और फिर मेरा सन्देश सुनाना—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्,
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदी वीचिषु भ्रूविलासान्,
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते चण्डि ! सादृश्यमास्ते ॥

हे शोभने ! तुम्हारे अगों की कोमलता प्रियङ्गुलता में, तुम्हारे दृष्टिपात का आनन्द हरिणियों के नयन में, तुम्हारे कपोलों की चमक चन्द्रमा में, तुम्हारे कबरीपाश की सजावट मयूरों के बर्ह में और तुम्हारे भ्रू विलास का सौन्दर्य कृश-जल नदियों की झीनी-झीनी लहरियों में पाता हूँ, पर, इन सभी आनन्दों का सङ्गम, एक स्थान पर, नहीं मिलता !!—अच्छा, विधि-विधान पर किसका क्या वश है—सुख-दुःख का चक्र बराबर नीचे ऊपर होता रहता है—

"कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण"

कभी तो इस निराशा भरे दुःख का अन्त होगा और कभी तो हम दोनों पुनः 'परिणत शरच्चन्द्रिकासु क्षपासु' में केलिविलास करेंगे । बस, हे मेघ ! अब तुम जाओ !!

मा भूदेवं क्षणमपि न ते विद्युता विप्रयोगः !!

आशा के सुनहले 'पालने' पर पाठकों के मानस-शिशु को स्वर्गीय-लोरियों को सुना कर भुलाने वाले महाकवि ! तुम धन्य हो ! तुम्हारी सृष्टि धन्य ! और—

वयं तु कृतिनः 'त्वत्सूक्तिसंसेवनात्'

(४)

'रघुवंश' १९ सर्गों का महाकाव्य है । मैंने सुना है कि धारा नगरी में रघुवंश की एक ऐसी भी प्रति है जिसमें २६ सर्ग है । स्वर्गवासी रायबहादुर शंकर पांडुरंग ने भी २० से लेकर २५ सर्गों तक के रघुवंश का दर्शन किया था । इस ग्रंथ में रामायण तथा पुराणों की छाया

वर्तमान है। रघुवंश सभी काव्यों में श्रेष्ठ तथा प्रसादगुण से ओत-प्रोत है। इसमें 'दिलीप' से लेकर 'अग्निवर्ण' तक इक्ष्वाकुवंश के राजाओं का वर्णन है। इस पर ३३ टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनमें 'मल्लिनाथ' ही को उत्तम टीकाकार का यश प्राप्त हुआ। इस महाकाव्य के मनन से अनितरसाधारण-व्याकरणज्ञता, अलङ्कारशास्त्र की पारदृश्वता, नृत्य-गीत-वाद्य-अभिज्ञता, दर्शन-अनुशीलन प्रवृत्ति, ज्योतिष-पटुता, वैद्यतन्त्र-कुशलता, पदार्थविद्याविशदता, • भूगोल-राजनीति-इतिहासादिलोकनियम-दक्षता, का पूरा-पूरा पता लगता है। रघुवंश का सूक्ष्म-निरीक्षण इस विश्वास को पुष्ट करता है कि यह कालिदास का अन्तिम और प्रौढ़ काव्य-सर्जन है। इस महाकाव्य में भावाभिव्यञ्जन का चरम-चातुर्य, मैत्रीबद्ध शब्दों का विन्यास, उपमालङ्कार की अलौकिक योजना, भाषा पर अनिर्वचनीय अधिकार, वेद-वेदाङ्ग की शोभन-सूक्तियों का तात्त्विक चिन्तन और सबसे बढ़कर सकलप्रयोजनशिरोमणि, ब्रह्मास्वादसहोदर रसास्वाद का परमविकास अनुभव करने को मिलता है। इसमें स्थान-स्थान पर वहाँ के प्रसग के अनुरूप ही अनुष्टुप्, उपजाति, वंशस्थ, वसन्ततिलका, मालिनी, शिखरिणी, हरिणी, पृथिवी, वियोगिनी, आदि छन्दों का निदर्श कवि की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। इसके निर्माण में उनका 'कविकुलगुरुत्व' स्पष्ट प्रतिभासित हो उठा है। लोक शिक्षा, नित्य-व्यवहार-नैपुण्य तो जैसे इस वाक्य में कूट-कूट कर भरा है। अपने काल की सारी बातों को समेट कर कालिदास ने रघुवंश में मानों बन्द कर दिया है। इस काव्य के रूप में मानों निर्माता ने विश्व की सभ्यता को भारतीय—संस्कृति का प्रतिनिधि बनकर चुनौती दी है। सचमुच 'रघुवंश' सरस्वती की 'विभ्रम-भूमि' है, सारस्वत- सिद्धान्तों का केन्द्र-बिन्दु है। कवि-प्रतिभा का अचल-अडिग कीर्ति-लेख है। 'धर्म अर्थ काम मोक्ष' की प्राप्ति काव्य से भी होती है—इसको सुन्दर प्रमाणों

में 'रघुवंश' का भी अपना स्थान है। 'क इह रघुकारे न रमने'[1] (कौन रघुवंश-कार पर मुग्ध नहीं होता ?) की उक्ति सर्वथा सत्य है। यह काव्य सभी दृष्टियों से अनवद्य है। प्रथम सर्ग का प्रारम्भिक वन्दना-श्लोक कितना भावगर्भ है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ, वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे, पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

और इसमें भी सन्देह नहीं कि यह वन्दना भी सफल हो गई। रघुवंश आज भी समस्त विद्यापीठों में सामान्यतया प्रचलित है। राजाओं की अवस्था के चार विभाग कितने हितावह हैं—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां, यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

वे बाल्यावस्था में अध्ययन करते थे, युवापन में लौकिक पुत्र-कलत्र में रत रहते थे, वृद्ध-वय में ऋषिवत् आचरण रखते थे और अन्त में योग-निष्ठ होकर प्राणत्याग करते थे। इस पद्य की 'विडम्बना' महा-महोपाध्याय, महामनस्वी भारतीय-महापंडित स्वर्गीय श्रीरामावतार शर्मा एम० ए० इस प्रकार किया करते थे—

शैशवे परिणीतानां, यौवने वृद्धताजुषाम् ।
वार्द्धके बकवृत्तीनां शौचागारे तनुत्यजाम् ॥

(आज कल के लोग) बाल्यावस्था में विवाह करते हैं, युवापन में बूढ़े हो जाते हैं, वृद्ध-वय में बक-वृत्त (ठगी) से काम चलाते हैं और (अचानक) शौचागार में ही (हार्ट-फेल से) शरीर छोड़ बैठते हैं !!—सचमुच टिप्पणी कस कर बैठ गई।

---

[1] इस सूक्ति के लिए देशभक्त पण्डित यज्ञनारायण उपाध्याय एम० ए०, एल्० एल्, बी० बी०, टी०, एम्०एल्० ए० का कृतज्ञ हूँ।

द्वितीय सर्ग में गो-सेवारत दिलीप का कितना मार्मिक दृश्य है—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां, निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां, छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥

जब नन्दिनी ठहरती थी तभी दिलीप ठहरते थे, जब वह बैठती थी तभी वे बैठते थे, और जब वह जल पीती थी तभी वे जल पीते थे—इतना कहने पर सन्तुष्ट न होकर कवि ने लिख दिया—'नहीं-नहीं' छाया की भांति अनुगमन किया। योगियों से भी अशक्य सेवाधर्म इस 'छायेव' के सहारे साफ खिल उठा है। तृतीय सर्ग में रघु का इन्द्र का संवाद पुरुषार्थ को सन्धुक्षित करने वाला प्रसङ्ग है। चतुर्थ सर्ग का तो फिर क्या कहना, रघु के दिग्विजय के बहाने स्वदेश के सभी भागो का विलक्षण ज्ञान कवि ने प्रकटित कर दिया है। आज का इतिहास-कार तो उनके भूगोल-विज्ञान पर लहलोट होकर लिखता है 'रघुवश में रघु के दिग्विजय के' बहाने भारतवर्ष की राष्ट्रिय एकता को एक सजीव रूप में कवि ने रख दिया है। आज से कुछ बरस पहले रघु के उत्तर दिग्विजय के एक-एक देश की पहिचान करते हुए जब मैंने उसका समूचा रास्ता टटोल डाला, तब यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि आधुनिक भूगोलशास्त्र, इतिहास, भाषाविज्ञान और जनविज्ञान के सहारे हम भारतवर्ष की जो स्वाभाविक सीमाये नियत कर पाते हैं, कालिदास ने अपनी सहज प्रतिभा से ही उन्हे ठीक-ठीक पहिचाना और अङ्कित किया है। उस महाकवि के विशाल-हृदय की अनोखी सूझ और राष्ट्रिय आदर्शवादिता का यह उज्ज्वल प्रमाण है !![1] पंचमसर्ग में वरतन्तु-

---

[1]द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ में 'भारतीय वाङ्मयके अमररत्न' लेख का अंश।

शिष्य 'कौत्स' को राजा रघु के द्वारा चतुर्दश कोटि स्वर्णमुद्रा देने का हृदयस्पर्शी आर्षकालीन चित्र है। षष्ठ सर्ग का स्वयंवर-प्रकरण किसका मन नहीं मोहता ! परवर्ती कवियों में श्रीहर्ष, बिल्हण जैसे कवि-शिरोमणियों का स्वयवर-वर्णन इस गौरव को नहीं पा सका। अष्टम सर्ग का अज-विलाप तो अज-विलाप ही ठहरा। स्वच्छ हृदय हो, कोई विघ्न-बाधा न हो तो इसके पाठ से अश्रु-अभिषिक्त होने में देर नहीं लगती।

स्रगियं यदि जीवितापहा, हृदये किं निहता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया॥

यदि इस माला के स्पर्श से जीवन समाप्त हो जाता है तो मेरा भी क्यों नहीं होता, अथवा विष भी कहीं अमृत हो जाता है और अमृत भी कहीं विष हो जाता है। हे विश्व के 'सहचरी-विरह-कातर-हृदयो' ! सच कहना यह तुम्हारी ही चिरन्तन-वाणी है कि नहीं ! नवम सर्ग में वसन्त ऋतु-राज का द्रुत-विलम्बित-गति से परिचय दिया गया है। दशम सर्ग के बाद एकादश में राम-लक्ष्मण का ब्रह्मचर्य-वेश देखने में आता है। विश्वामित्र की आज्ञा के वशवर्ती होकर 'आततज्य' 'निदेशकरणोद्यत' 'वीररसावतार' 'दाशरथि' राम के द्वारा बहुल-क्षपाच्छवि, चलकपाल-कुण्डला, कालिका के तुल्य निबिड़ा बलाकिनी, तीव्रवेगकम्पितमार्गवृक्षा, प्रेतचीवरवसा, क्रन्दनकारिणी, श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखला, पितृकाननो-त्थितझञ्झा के समान निशाचरी ताड़का का बाण-हतहृदया होकर 'जीवितेशवसति' के प्रति गम न करने का अद्भुत भाव प्रदर्शन है। द्वादश के बाद त्रयोदश सर्ग तो 'व्योमकाव्य' का आदर्श बन गया है, आकाश से मानो भारत भूमि का 'फ़िल्म-चित्र' उतारा गया है। राम कहते हैं–

हे वैदेहि ! इस फेनिल अम्बुराशि को देखो, इसको हमारे पूर्वजों ने खना है, इसी के भीतर 'नाभिप्ररूढाम्बुरुहासन ब्रह्मा' से संस्तूयमान

पुरुषोत्तम 'युगान्तोचितयोगनिद्रा' में मग्न रहते हैं, यह समस्त नदियों के प्रति 'अनन्य-सामान्य-कलत्र-वृत्ति' है, यह देखो तुम्हारे अधर की ललाई से होड़ लगाने वाले मूंगो और शङ्खों में कैसी प्रतिद्वन्द्विता लगी है, यह लो—

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा॥
वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते, सम्भावयत्याननमायताक्षि!।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम्॥
कुरुष्व तावत्करभोरु! पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि! दृष्टिपातम्।
एषा! विदूरीभवतः समुद्रात् सकानना निष्पततीव भूमिः॥

देखो, लौहचक्र के समान लवण-समुद्र की वेला दूर से सूक्ष्म तथा तमालतालीवनश्रेणी-सी नीला, धारा-निबद्ध कलङ्करेखा-सी लगती है। हे आयत नेत्रे! वेला-पवन अपने केतक-मकरन्द से तुम्हारे आनन को विभूषित कर रहा है उसे मालूम है कि मैं तुम्हारे अधर-बिम्ब के दर्शन में ही मग्न होकर तुम्हारे शृङ्गार की ओर ध्यान नहीं दे पाता! हे मृग-लोचने! जरा अपने पीछे की ओर तो देखो, जैसे-जैसे समुद्र दूर होता है वैसे-वैसे मानों वन-समेत भूमि निकलती आ रही है! विमान भी मेरे मानसिक-संकल्प के अनुसार ही चल रहा है। लो ऐरावत के मद-जल गन्ध से मुखरित, आकाशगंगा की तरङ्गो से शिशिर, यह गगन-समीर तुम्हारे पसीने की बूंदों का आचमन कर रहा है, विमान के झरोखे में कुतूहल-वश तुम्हारे बाहर किये गये हाथ में बादल मानो बिजली का चमचमाता कंगन पहना रहा है! आह!

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां, भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्द विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥

यह वही स्थली जहाँ तुमको खोजते हुए मैंने धरती पर पड़े हुए

तुम्हारे नूपुर को पाया था जो मानों तुम्हारे चरणारविन्दों से वियोग-जन्य दुःख के मारे ही 'चुपचाप' था। यहां की लताओं ने बोलने में असमर्थ होकर डालियों और पल्लवों को हिला-हिला कर तुम्हारा रास्ता दिखाया था। यह, सामने माल्यवान् नामक पर्वत देखो, इसके ऊपर बादलों की नवीन जल-धार, और मेरी आँखों की वियोगाश्रु का प्रवाह एक साथ गिरा था!..

समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते, पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबंधः॥

समुद्र की पत्नियां गङ्गा और यमुना के सङ्गम-स्थल (प्रयाग) में स्नान करने से तत्वज्ञान के बिना भी मोक्ष प्राप्त होता है, वह यही स्थान है। 'निषादराज' के नगर को तो जरा देखो जहां पहले-पहले मुकुट हटा कर जटा धारण करने वाले मुझे देखकर 'सुमन्त्र' चिल्ला उठे थे 'कैकेयि! कामाः फलितास्तवेति' हे कैकेयि! तुम्हारे सभी मनोरथ पूरे हो गये।

इसके बाद का चतुर्दशसर्ग तो बस, रघुवंश का प्राण ही है। आदर्शवादी सम्राट् राम से परित्यक्ता सीता लक्ष्मण के द्वारा किस प्रकार वन में छोड़ी जाती है—यह पढ़ते समय हृदय का भी हृदय रो उठता है। सीता का राम के प्रति दिया हुआ उपालम्भ 'कलेजे के भीतर व्रण-शल्य' की भांति खटकता रहता है—सीता कहती हैं, हे लक्ष्मण!—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा, वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः, श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥
कल्याणबुद्धेरथवा तवायं, न कामचारो मयि शंकनीयः।
ममैव जन्मांतरपातकानां, विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः॥
निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां, तपस्विनीनां भवतः प्रसादात्।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं, कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने॥

किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे, कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमंतर्गतमंतरायः ॥
साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरुर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि, त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥
नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स, एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।
निर्वासिताऽप्येवमतस्त्वयाहं, तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥

उस 'राजा' से कह देना, अग्नि में तपा कर परीक्षा लेकर भी तुमने केवल लोकापवाद के भय से जो मेरा त्याग कर दिया क्या वह उचित है ? अथवा तुम्हारे इस 'स्वेच्छाचार' को कैसे अनुचित कहा जाय क्योंकि तुम 'कल्याणबुद्धि' हो, यह तो मेरे अनेक जन्मों के पाप का ही परिणाम है। भला यह तो कहो निशाचरों से त्रस्त पतियों वाली तपस्विनियों की रक्षा मैंने किसी समय तुम्हारे बल पर की थी, अब तुम्हारे रहते हुए वही मैं दूसरे की शरण में कैसे जाऊँ ? सच पूछो तो तुम्हारे वियोग में निस्सार जीवन को मुझे समाप्त कर देना चाहिये लेकिन अपने शरीर में रहने वाले तुम्हारे तेज (गर्भ) के कारण लाचार हूँ। अब मैं निश्चय करती हूँ कि प्रसव के पश्चात् सूर्य की ओर दृष्टि कर तपश्चर्या करूँगी जिससे उसके फल से अन्य जन्म में भी तुम्हीं को पति रूप में प्राप्त कर सकूं ! अन्त में इतना ही कहना है—मनु ने राजा को सभी वर्णों और आश्रमों का पालक कहा है—इस दृष्टि से तो-कम से कम अपने साम्राज्य की एक तपस्विनी मानकर भी मेरा ख्याल करना.........!!

इन वाक्यों में सीता का नारी-हृदय-सुलभ, क्षोभ, पातिव्रत्य का उज्ज्वल-प्रताप किस भांति उद्दीप्त हो रहा है यह लिखने की बात नहीं अनुभव करने की है। आह ! इसके बाद तो फिर सीता मुक्तकण्ठ से वन-प्रदेश में रो उठीं और—

'नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षाः, दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यंतमासीद्रुदितं वनेऽपि ॥'

सीता के करुण और हृदयवेधी रुदन को सुनकर मयूरों ने नृत्य करना रोक दिया, पेड़-पौधों के पुष्परूपी अश्रु झरने लगे, हरिणियों के मुंह का तृण-पुञ्ज मुंह में ही रह गया—मालूम होता था कि सारा वन सिसक-सिसककर, दिल तोड़ कर, रो रहा है !! आगे 'रघुवंश' में क्या है, यह लिखने की शक्ति नहीं—पाठक स्वयं पढ़ने का कष्ट करें और थोड़ी देर मेरी हतभागी आंखों को स्वदेश के परम-ऐतिहासिक अश्रु-तीर्थ में नहाने दें।

कालिदास के नाटक

(१)

महाकवि कालिदास के तीन नाटक हैं (१) 'मालविकाग्निमित्रम्' २ 'विक्रमोर्वशीयम्' ३ 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्'। 'मालविकाग्निमित्रम्' पाँच अंकों में समाप्त हुआ है। इसमें विदिशापति 'अग्निमित्र' और विदर्भ देश की राजकुमारी 'मालविका' की प्रेम-कथा है। राज्य-उपद्रव से अभिभूत होकर मालविका भाग कर विदिशा में शरण लेती है। वहां रानी धारिणी की दासी के रूप में उसी की योजना से गणदास नामक नाट्याचार्य से नृत्य-कला में नितान्त-नैपुण्य प्राप्त करती है। मालविका की चित्त चुराने वाली सुघराई से शंकित होकर रानी ऐसा प्रबन्ध करती है कि राजा की दृष्टि उस पर न पड़े। एक दिन राजा उसका चित्र देख कर उत्कण्ठित हो उठता है। इसी बीच गणदास और उसका प्रतिद्वन्द्वी नट अन्योन्य में कौन श्रेष्ठ है—इसका निर्णय कराने आते हैं जिसमें यही तय हुआ कि जिसका शिष्य कुशल निकले वही नाट्य-शास्त्र का आचर्य्य माना जायगा! मालविका को अन्ततः राजदरबार में गणदास की शिष्या के रूप में अपना त्रिभुवन-सुन्दर अनङ्ग-मद-हारी मधु-नर्तन दिखाना पड़ा—फलतः राजा उसको पाने के लिए बेचैन हो उठा। अन्त में विदर्भ से आगत। विजय-संवाद दाताओं से यह रहस्य भी खुल गया कि मालविका विदर्भ की राजकुमारी है। उसी समय राजकुमार 'वसुमित्र' द्वारा सिन्धु-तट पर यवनों को पराजित कर अश्वमेध यज्ञ के अश्व की रक्षा का समाचार मिला—इसी आनन्द—वेला में यह महिषी धारिणी और

प्रियतमा 'इरावती' के आदेश और अनुमोदन से अग्निमित्र, मालविका के साथ विवाह करने में सफल हो जाते हैं। इस नाटक में कालिदास का उज्जवल भविष्य विद्यमान् है। यह भी अप्रौढ़ काल की ही रचना है फिर भी घटना चक्र का सन्निवेश अत्यन्त शुद्ध है। राजा धीरललित नायक है। इसके अनेक पद्य-अनेक उक्तियाँ मुहावरों से भरी है। नाट्य-शास्त्र की विभिन्न सूक्ष्म बातों का उल्लेख भी इसमें प्रचुर मात्रा में हुआ है।

इस नाटक के निर्माण समय में भी कालिदास का सम्मान होने लगा था। क्योंकि पारिपार्श्विक के यह कहने पर—

'प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः'

(प्रसिद्ध, यशस्वी, भास आदि कवियों के प्रबन्ध को छोड़कर वर्तमान कवि कालिदास की रचना का सम्मान कैसे हो सकता है?)
सूत्रधार उत्तर देता है।

'पुराणमित्येव न साधु सर्वं, नचापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥'

जो पुराना है वही ठीक है और नया सब कुछ गलत ही है,—यह तो कोई विचार नहीं। सज्जन परीक्षा करने के बाद उचित वस्तु को अपनाते हैं। यह तो मूढ़ का नियम है कि दूसरे के कहने-सुनने पर अपना भी विश्वास वैसा ही बना ले।

(२)

'विक्रमोर्वशीयम्' भी पांच अंकों का ही नाटक है। इसमें कवि की कल्पनाशक्ति और भी समुन्नत है। ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, में इसका संक्षिप्त-कथानक मिलता है। मत्स्यपुराण में ठीक इसी प्रकार की कथा

उपलब्ध होती है । मालूम होता है इस रचना के ऊपर कालिदास की न मता हो चली थी क्योंकि सूत्रधार से उन्होंने कहलाया है—

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात् ।
शृणुत जना अवधान्नात् , क्रियामिमां कालिदासस्य ॥

अपने प्रेमास्पदों पर आनुकूल्य दिखाकर या अच्छे पुरुष की कथा पर प्रीति दिखा कर हे सज्जनों ! सावधान होकर कालिदास की इस कृति को सुनिये । इसमें राजा पुरूरवा और उर्वशी की प्रसिद्ध प्रणय-गाथा का रस-बद्ध गुम्फन है । स्वयं कवि के शब्दों में भी यह नाटक 'ललिता भिनय' और 'अष्टरसाश्रय' है । इस नाटक में महान् विक्रमादित्य के गुणों के वर्णन का बीज विद्यमान् है—ऐसा रहस्य-कोविदों का मत है। उर्वशी के वियोग में व्यथित पुरूरवा के हृदय-मन्थन के अनेक दृश्य पाठकों को बेसुध बनाने में पूर्णतया दक्ष हैं । उर्वशी के भी पुरूरवा पर होने वाले असंयत और उत्कट प्रणय को दिखलाने में कवि का चातुर्य सफल हुआ है । इसके नाटक के अनेक पद्य संस्कृत-वाङ्मय के विभिन्न उच्चकोटिक लाक्षणिक-ग्रन्थो में उदाहरणार्थ उद्धृत किये गये हैं—जिससे भी इसकी सहृदय-जन-प्रियता का पता लगता है । कारण विशेषवश हम इन दोनों नाटकों के विषय में अधिक न लिखकर आगे बढ़ते हैं ।

(३)

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' संस्कृत-साहित्य का 'सिद्धान्तसिंहासन-सन्निषण्ण' नाटक-सम्राट् है । इसमें सात-अङ्क हैं महाभारत के आदि-पर्व तथा पद्मपुराण के स्वर्गखण्ड में इसके कथावस्तु का पूर्णरूप है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि कालिदास का प्राण शाकुन्तल नाटक में है—

'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशकुन्तला'

और यह सर्वथा सत्य है । कालिदास की अन्य रचनाओं का आस्वादन

करते समय हमें 'कालिदास और उनके कविता-गुण' दोनों का ध्यान रहता है—हम कह दिया करते हैं 'धन्य हैं महाकवि कालिदास और धन्य है उनकी यह कला।'—परन्तु शाकुन्तल में आनन्द मग्न होने के समय हमें कालिदास, उनकी विशेषता और समस्त बहिर्जगत् का रंचमात्र भी ध्यान नहीं होता है केवल शकुन्तला के व्यक्तित्व में हम अनुगत हो जाते हैं। इस पराजय में कवि की विजय अन्तर्निहित है। सच तो यह है कि 'नाटक' कवि की प्रतिभा का 'शाण-निकष' है। नाटक का प्रभाव लोकोत्तर होता है। जो नाटकों को केवल व्यवहार ज्ञान और व्युत्पत्ति-वृद्धि के लिए आवश्यक मानते हैं, वे सर्वथा शुद्धभ्रम में निपतित[1] हैं। नाटक तो कवित्व-सहकार का रस-भर-विगलित फल है, आनन्दरूपी दक्षिणदिगन्तराल का सततशीतल मारुत-स्यन्द है। साहित्य-सरोवर का आवृन्त-प्रफुल्ल पङ्कज-पुञ्ज है। अतिशयित-पुण्यराशि से ही नाटक में सिद्धि प्राप्त होती है; नहीं तो फिर भवभूति जैसे कलाकार को भी—

'उत्पत्स्यतेहि मम कोपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी'

का हृदय-दाही उच्छ्‌वास न छोड़ना पड़ता! नाटक एक ऐसा पदार्थ है जिसमें स्थूल-सूक्ष्म सभी प्रकार के ज्ञान, शिल्प-विद्या, कला, योग्य और कर्म की उपस्थिति आवश्यक है। सचमुच, इन सबों का समागम शाकुन्तल नाटक के प्रणेता में था। कान्ता सम्मित काव्य का लक्ष्य-मौलि-मुकुट 'शाकुन्तल' नाटक ही है। सरस्वती का हृदय-तत्त्व इसमें साक्षात् प्रतिबिम्बित है। इसीलिये कालिदास ने इसके प्रथम अंक में पूर्व-

---

[1] आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु, व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुः, तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय॥
—'दशरूपक' श्लोक ६

नाटकों की भाँति 'अनुनय-विनय' वाली प्ररोचना नहीं की है किन्तु 'रसभावदीक्षागुरु' विक्रमादित्य के अभिरूप-पारिषदों का आवाहन-मात्र करने का कष्ट उठाया है ! ठीक ही है–

'वाणी ममैव सरसा, यदि रञ्जयित्री, न प्रार्थये रसविदामवधानदानम् ।'

शाकुन्तल नाटक अपने निर्माता की अजर-अमर 'विजय-वैजयन्ती' है। इस नाटक में वंग, महाराष्ट्र, काशी आदि प्रान्त भेद से अनेक पाठ-भेद देखने में आते हैं। इसकी टीकाओं में राघवभट्ट और अभिराम की टीकायें पठन-पाठन में व्यवहृत होती हैं। कहते हैं इस नाटक को यूरोपीय-भाषा में सर्वप्रथम बंगाल प्रान्त के अफसर सर 'विलियम जोन्स्' ने सन् १७८९ ई० में किया और कालिदास को 'भारत का शेक्सपियर' कहा। परन्तु अब तो देश-विदेश की शायद ही कोई ऐसी भाषा हो जिसमें इसका अनुवाद न हुआ हो। विश्व-विख्यात रस-लोलुप जर्मन-महाकवि गेटे तो 'शाकुन्तल' पढ़ कर नाच ही उठे ! शाकुन्तल के जर्मन-अनुवाद को पढ़ कर ही उन्हे अपने लोक-प्रसिद्ध नाटक 'फाउस्ट' में संस्कृत-नाटकों की भाँति प्रस्तावना लिखने की सूझी। उनकी शाकुन्तल-विषयक सूक्ति का समर्थन विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने भी शुद्ध अन्तःकरण से अपने प्राचीन साहित्य में किया है। उस सूक्ति का संस्कृत-अनुवाद यह है–

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद्, ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्;
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः, संतर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा, स्वर्लोकभूलोकयोः;
ऐश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥

अर्थात्—

'यदि तुझको कोमल कुसुमों का सौरभ पक्व फलों का रस,
एक साथ पाना है, आत्मा को आकर्षित हर्षित, प्रमुदित,

करने वाली वस्तु कि जिसमें पृथ्वी स्वर्ग सभी एकत्रित–
एक नाम है उसका कह दूँ 'शाकुन्तल' अब क्या कहना, बस' !!
(प्रभाकर माचवे)

सुप्रसिद्ध फ्रेञ्च-प्रोफेसर 'सिलवे लेवी' ने इस सम्बन्ध में कितना यथार्थ-अभिमत व्यक्त किया है–

"भारतीय-कवियों में श्रीकालिदास का स्थान सर्वोच्च है और उनकी कविता सुन्दर से सुन्दर कविता का उज्ज्वल निष्कर्ष है। शाकुन्तला नाटक की सृष्टि पर जिस आवेग तथा उत्कण्ठा से उसका स्वागत उज्जयिनी पुरी में हुआ होगा उसी आवेग से अनेक शताब्दियाँ बीत जाने पर भी 'विलियम जोन्स' द्वारा अनुवादित शकुन्तला के पाश्चात्य देशों में प्रचार होने से सारे ससार में एक सिरे से दूसरे सिरे तक आज उसकी कीर्ति फैल गई है और श्रीकालिदास का नाम कवियों की कीर्ति रूपी उस आकाशगंगा में अङ्कित हो गया है जिसमें का प्रत्येक नाम उत्कृष्ट से उत्कृष्ट मानवी बुद्धि का सारभूत है। उन्हीं नामों की माला से इतिहास बनता है।"

हम यहाँ पर स्थानाभाव से काव्यों की भाँति किसी प्रसङ्ग का शृङ्खलाबद्ध आलोचना करने में समर्थ नहीं हैं–अतः दो चार फुटकर सूक्तियों का आलोचन-स्पर्श कर देते हैं–

शाकुन्तल में ऋषिकालीन तपोवन और तात्कालिक सम्राट् के भावों का अन्तश्चित्र है। तपस्वि-कन्यकाओं के पीन-मांसल अङ्ग-लावण्य पर दुष्यन्त बिक जाते हैं 'अहो मधुरमासां दर्शनम्' के साथ साथ इस शुद्धान्त-दुर्लभ सौन्दर्य पर एक सच्ची उक्ति कहते हैं–

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः;
अनाविद्धं रत्नं, मधु नवमनास्वादितरसम्।

अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघम् ;
न जाने, भोक्तारं क इह समुपस्थास्यति विधिः ॥

शकुन्तला का सौन्दर्य

वह फूल है जिसे अभी तक किसी ने सूंघा नहीं, वह मृदुल-पल्लव है जो नखों से छूआ भी नहीं गया है, वह रत्न जो अभी बेधा भी नहीं गया है, वह ताजा मधु जिसका स्वाद भी नहीं चखा गया है, पता नहीं अखण्ड-पुण्यों के फ़ल के समान उस (सौन्दर्य) को भोगने का भाग्य विधि ने किसके ललाट पर लिखा है। कहते हैं–

काव्येषु नाटकं रम्यं, नाटकेषु शकुन्तला ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥

थोड़ा सा आनन्द उसी प्रसंग का ले लेना हमारा धर्म है। ऋषि-कुमार आता है और पति-गृह-गमन-उत्सुका शकुन्तला को आभरणों का प्रदान करता है–

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतम् ;
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ॥
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितैः;
दत्तान्याभरणानि तत् किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ॥

किसी पादप ने चन्द्र-किरणों सी उज्ज्वल माङ्गल्य-शाटिका दी, किसी (तरु) ने पैर रंगने के लिये महावर निचोड़ कर दे दिया। अन्य अनेक वृक्षों ने कलाई तक निकले हुए खिलते पत्तों के तुल्य वन-देवताओं के समान अपने हाथों से गहने दिये, ऐसा ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिक भारत की वन-बालाओं के क्रीडाङ्गण में स्थित हैं।

कण्व का हृदय शकुन्तला के चले जाने की याद से रो रहा है।

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया ;
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीशमहो स्नेहादरण्यौकसः ;
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥

आज शकुन्तला चली जायगी इतना सोचते ही हृदय वेदना से भर गया है। गला रोके हुए आंसुओं से गद्‌गद् हो उठा है, चिन्ता के मारे नयन डबडबाये हुये हैं। जब मुझ जैसे वनवासी का यह हाल है तब हाय ! गृहस्थ माता-पिता बेटी के पहिली बार ससुराल जाते समय कैसी मर्म-पीड़ा पाते होंगे।

शकुन्तला के चलने के पूर्व एक सच्चे पिता की भांति सन्तान-स्नेह से कातर होकर शकुन्तला की मंगल-कामना वे इस भाँति करते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या ;
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः;
सेयं याति 'शकुन्तला' पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

हे वन-देवताओं के आश्रयदायी तपोवन के तरुओं !

जो पहले तुम्हारी प्यास को बुझाये बिना स्वयं कभी जल पीने की कामना नहीं करती थी, आभरण-प्रिया होने पर भी मारे स्नेह के तुम्हारे पल्लवों पर हाथ नहीं लगाती थी, तुम्हारी शाखाओं का पहला पुष्पोदय देख कर जो उत्सव मनाया करती थी वही शकुन्तला आज अपने पति के गृह को जा रही है, आप लोग आज्ञा दीजिये। यह लीजिये कोकिल की 'कल-काकली' क्या हुई प्रकृति ने मानों अनुमतगमना होकर शकुन्तला को आशीष दे दी। चलते समय शकुन्तला के हाथ से रोज-रोज लालित-पालित एक नन्हा-सा मृग छौना उसके पैरों पर लोट जाता है, शकुन्तला

की आखें छलछला उठती हैं, पथ नहीं सूझता है, काटे गड़ने के बहाने रुकती है, कभी पिता के पैरों पड़ती है--कभी लताओं को 'गलबहियां' डालती है !......करुणा का समुद्र अबाध-वेग से उछलता है। भारत के 'सहृदय-शिरोमणि' नाट्य-मीमांसक द्विजेन्द्रलाल राय ने क्या ही अनूठी उक्ति लिखी है--

"हमारा जन्म सार्थक है क्योंकि जिस देश में कालिदास ने जन्म लिया था उसी देश में हम पैदा हुए हैं। और जिस भाषा में उन्होंने रचना की वह भी हमारी है। अनेक शताब्दियों पूर्व इस महाकवि ने जिस नारी-चरित्र की वर्णनना या कल्पना की वह शकुन्तला हमारी गृह-लक्ष्मी स्वरूपिणी होकर आज भी हिन्दुओं के गृह में विराज रही है।

कालिदास का व्यापक प्रभाव

कालिदास भारतवर्ष के सब से प्रसिद्ध कवि गिने जाते हैं ![1] संस्कृत-साहित्य में इनका दर्जा बहुत ऊँचा है इनकी कवित्व शक्ति और प्रतिभा श्रेष्ठ कोटि की है। 'प्रसन्नराघवः' कार जयदेव ने जो इन्हें 'कविकुलगुरुः'[2] कहा है वह यथार्थ है।[3] जैसे फूलों में मालती, नगरियों में काशी, नारियों में रम्भा, पुरुषों में विष्णु, नदियों में गंगा, राजाओं में राम और काव्यों में माघ (शिशुपालबध) की प्रसिद्धि है, वैसे ही कवियों में कालिदास की प्रसिद्धि है।[4] इस परम विचित्र ससार में कालिदास-जैसे कुछ ही लोग 'महाकवि' पद पर प्रतिष्ठित हैं।[5] इनके प्रणीत समस्त

---

१ 'संस्कृतविद्या का इतिहास' पृ० १६६

२ यस्याश्चोरश्चिकुरनिकुरः कर्णपूरो मयूरः ;
भासो हासः कविकुलगुरुः 'कालिदासो' विलासः ।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः ;
केषां नैषा भवति कविता-कामिनी कौतुकाय ॥

—प्रसन्नराघवनाटक प्रथम-अङ्क

३ 'संस्कृत-साहित्य का संक्षिप्त-इतिहास' (जोशी-भारद्वाज) पृ० १०५

४ पुष्पेषु जाती नगरीषु काशी, नारीषु रम्भा पुरुषेषु विष्णुः ।
नदीषु गङ्गा नृपतौ च रामः, काव्येषु माघः 'कवि-कालिदासः' ॥

—सुभाषित

५ अस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे 'कालिदास'- प्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा 'महाकवय' इति गण्यन्ते । — ध्वन्यालोक

प्रबन्धों के अध्ययन से कवित्व शक्ति भी मिलती है।[1]

'वाल्मीकि' ने जिसे जन्म दिया और व्यास ने जिसे लीलावती बनाया उस गुणशालिनी वैदर्भी-कविता ने मानों कालिदास के गले में स्वयंवर की माला डाल दी।[2] पहले कभी, कवियों की गणना करते समय कालिदास का नाम अनामिका अङ्गुली के पहले पर्व (पोर) पर आया-और आज भी वहीं स्थिति हैं—अतः 'अनामिका' नाम ही सार्थक हो गया।[3] नई तरुणाई, भैंस की गाढ़ी दही, मिश्री से मिला हुआ दूध, शरद् का चन्द्रमा, कोमल विलासिनी रमणी, और कालिदास की कविता का आनन्द, विरले ही भाग्यशाली पाते हैं।[4] वाणी रूपी देवी के गुरु कालिदास वन्दनीय हैं जिनके ज्ञानरूपी दर्पण में संसार भर का प्रतिबिम्ब स्पष्ट झलकता है।[5] कालिदास की उक्तियों के सामने अन्य समस्त कवियों की रचनायें उसी प्रकार फीकी पड़ जाती हैं जिस प्रकार दीपक

---

१ 'पठेत् समस्तान् किल 'कालिदास' कृतप्रबंधानितिहासदर्शी'

—क्षेमेंद्र-कृत कविकण्ठाभरण १६ श्लोक

२ वाल्मीकेरजनि प्रकाशितगुणा, व्यासेन लीलावती।
वैदर्भी कविता स्वयं वृतवती, 'श्रीकालिदासं' वरम्॥—सुभाषित

३ पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठित 'कालिदासः'।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

—विदग्धमुखमण्डनम्

४ 'कालिदास' कविता, नव वयो, माहिषं दधि, सशर्करं पयः।
शारदेन्दुरबला च कोमला, प्राप्यते सुकृतिनैव भूतले॥—सुभाषित

५ महाकवि 'कालिदास', वंदे वाग्देवतागुरुम्।
यज्ज्ञाने विश्वमाभाति, दर्पणे प्रतिबिम्बवत्॥—हलायुध (६५० ई०)

की 'लौ' के सामने मालती की कलियाँ मुरझा जाती हैं।[1] निर्दोष, गुणवती, समुचित छन्दों और रीतियों से शोभाभरी और रस छलकाने वाली कालिदास की सरस्वती धन्य है।[2]

कालिदास की मधुवाणी के नर्त्तन ने वैदर्भी रीति का मार्ग चलाया।[3] इस कविता के लोक में यदि भारवि रवि हैं, बाण दीपक और रत्नाकर रत्न के समान हैं तो कालिदास उसके चमकते चन्द्रमा हैं।[4] कालिदास को छोड़ कर ऐसा कौन सुकवी कवि है जिसकी मधुर वाणी प्रेयसी की अङ्कपाली (गोद) की भाँति जितना ही मर्दित (आस्वादित) करो उतना ही रस (सुख) दे, कमल की पंखड़ी के समान दोष (जल) का स्पर्श भी न करे और हारावली की तरह गुणों (सूत्रों) से सुसज्जित हो।[5] वह कौन सहृदय है, जिसका मन, आम्र के मञ्जरी-निकुरम्ब के समान खिली हुई और सुगन्ध बगरानेवाली कालि

---

१ म्लायन्ति सत्कलाः, 'कालिदासे'नासन्नवर्तिना।
गिरः कवीनां दीपेन, मालतीकलिका इव॥—धनपाल (१०० ई०)

२ अनघा गुणसम्पूर्णा समुचितविच्छित्तिवृत्तिरीतिरसौ।
प्रस्तुतरससन्दोहा सरस्वती, जयति 'कालिदासस्य'॥ —अभिराम भट्ट

३ लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं 'कालिदासेन' शोधितम्॥—दण्डी (६०० ई०)

४ अस्तङ्गतभारविरवि'कालिदास'शुभ्रविधुविधुरम्।
निर्बाणबाणदीपं जगदिदमद्योति रत्नेन॥—सुभाषित

५ अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा, हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या, न कालिदासादपरस्य वाणी॥
—श्रीकृष्णकवि (१७०० ई०)

दास की सूक्तियों से नहीं मुग्ध होता है ?[1] कालिदास भी कवि हैं। और अन्य लोग भी कवि हैं, परन्तु उनमें वही अन्तर है जो पर्वत और और परमाणु में हैं। यद्यपि इन दोनों का नाम पदार्थ ही है।[2] कालिदास की प्रसादगुण गुम्फित और रसभरी वाणी क्या है मानो वाग्देवता के दुग्ध-पान के उद्गार हैं।[3]

कामशास्त्र और कालिदास का काव्य ये दोनों ही विलासवती कामिनी की साकूत, मधुर और कोमल बोली की भाँति चिन्तन करते समय भी आनन्द की वर्षा करते हैं।[4] वे ख्यातिप्राप्त महाकवि कालिदास धन्य हैं जिनकी शुद्ध और स्वादभरी कीर्ति-लक्ष्मी वाणी के रूप में रघुवंश रूपी जलधि के उस पार को पहुँच गई।[5] यों तो भले-बुरे हजारों कवि संसार में प्रसिद्ध हैं पर कालिदास की ज्योति कभी मन्द नहीं पड़ती—वे

---

१ निर्गतासु न वा कस्य, 'कालिदासस्य' सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥ —वाणभट्ट (७०० ई०)

२ कवयः 'कालिदासाद्याः' कवयो वयमप्यमी।
पर्वते परमाणौ च पदार्थत्वं प्रतिष्ठितम् ॥—कृष्णभट्ट (१७०० ई०)

३ प्रसादोत्कर्षमधुरा कालिदासीर्वयं स्तुमः।
पीतवाग्देवतास्तन्यरसोद्गारमिताः गिरः ॥ — हरिहर (१२०० ई०)

४ साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये।
शिक्षासमयेपि मुदे, रतिलीला कालिदासोक्ती ॥
—गोवर्धनाचार्य (१२००)

५ ख्यातः कृती कोपि च 'कालिदासः' शुद्धा सुधा-स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्रसिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः ॥
—सोड्ढलकवि (१०२६)

सदैव नवीन बने रहते हैं।[1] सुमतिशाली पुरुषों से जानने योग्य, कालिदासीय-रचनाओं के प्रतिपद में व्याप्त चमत्कारों की व्याख्या करने की शक्ति किसमें है? भला पुण्य-दर्शनीय विराट्रूप विष्णु की अशेष विशेषताओं को कौन मनुष्य आंक सकता है।[2] कालिदास, मयूर और मङ्खक जैसे कवीन्द्रों का वर्णन कौन कर पायेगा, जिनके वेष में स्वयं सरस्वती ने पुरातन-पुरुष की लीलाभूमि (भारत) में विहार किया।[3] आदि कवि वाल्मीकि के बाद कालिदास ही सम्मान-योग्य महाकवि हैं। यों तो उनके सिवा अन्य भी कवि-वर हैं, परन्तु उनकी कृतियों के आनन्द को विरले ही जन लेने की चाह करते हैं।[4]

---

१ अन्ये प्रथन्तां कवयः सहस्रं, अकद्वदा वा भुवि कद्वदा वा।
ते प्रस्तुता नेह परन्तु 'कालिदासे', कवौ नैव कदाप्युदासे॥
—यज्ञनारायणदीक्षित (साहित्यालंकार)

२ प्रतिपदमखिलार्थव्याकृतौ कः कृती स्यात्,
सुमतिभिरनुभाव्ये 'कालिदासस्य' काव्ये।
प्रभवति परिमातुं को विशेषानशेषान्,
वपुषि सुकृतिदृश्ये विश्वरूपस्य विष्णोः॥ – सुभाषित

३ कथं नु वर्ण्या भुवि 'कालिदास'मयूरमङ्खादिमहाकवीन्द्राः।
पुरातनीं पूरुषभूमिकां यद्वेषेण, धृत्वा विननर्त वाणी॥
—श्रीराजनाथ (१५४० ई०)

४ वाल्मीकिरस्तु विजयी प्रथमः कवीनाम्;
तस्यानुसारसरलः स च 'कालिदासः'।
अन्ये भवन्तु जयिनः कवयोऽधमा वा;
तेषां कुतः कृतिषु नैव मयाऽवगाहः॥
—उत्प्रेक्षावल्लभ (भिक्षाटनकाव्य)

कालिदास की कविता का आस्वाद लेने के बाद अन्य कवियों की रचनाओं पर मन वैसे ही नहीं जाता जैसे भ्रमरों का समूह पारिजात के फूलों का मकरन्द लेने के बाद अन्य क्षुद्र तरुओं पर नहीं जाता।[1] भारवि और कालिदास संस्कृतवाङ्मय में सूर्य और चन्द्रमा के तुल्य हैं। एक दीप्तिमान् हैं तो एक कान्तिमान् हैं किन्तु दोनों की वाणी प्रसादगुणगुम्फित और सारभरी है।[2] उपमा तो मानों कालिदास की वशंवद दासी है।[3] वे वाल्मीकि के सदृश ज्योतिर्मान् और कीर्तिरूपी देह से सर्वदा जीवित हैं—वे रस-भरे वचनों के धनी होने के कारण वन्दनीय हैं।[4] वे इस बात के उदाहरण हैं कि काव्य-रचना से कैसा अखण्ड यश प्राप्त होता है।[5] उनकी ध्वनि-विभूषित सूक्तियों का विवेचन करना

---

१ 'श्रीकालिदासस्य' वचो विचार्य, नैवान्यकाव्ये रमते मतिर्मे।
किं पारिजातं परिहृत्य हन्त, भृङ्गालिरानन्दति सिन्धुसारे॥
—सोमेश्वरदेव (११७९ ई०)

२ श्रितौ प्रसादभाजं गां, दीप्त्या कांत्या च जागृतः।
भारविः कालिदासश्च, सूर्यचन्द्रमसाविव॥
—हेमचंद्रराय (पाण्ड्यविजय)

३ उपमा 'कालिदासस्य' भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥ —सुभाषित

४ वाल्मीकिमिव सभासं, यशःशरीरेण सर्वदा सन्तम्।
रसवद्वचनविकासं नमत कविं'कालिदासं' तम्॥
—सुभाषितसुधारत्नभाण्डागार (विशिष्टकविप्रशंसा)

५ 'कालिदासादीनामिव यशः।'—मम्मटभट्ट-काव्यप्रकाश (११०० ई०)

वैसा ही है —जैसा कि एक मन्द-दीप मे राजमहल को दिखाने का प्रयत्न करना !![1]

महाकवि कालिदास की सूक्तियां मानो अमृत की धार से सींची गईं हैं चन्दन से भिगोई गईं हैं और चन्द्रमा की किरणों से मांजी गई है।[2] कालिदास ही एक ऐसे कवि श्रेष्ठ हैं जिन्होंने अपने नाटकों में 'वैदिक छन्द' का प्रयोग किया है।[3] उनकी वाणी का मर्म्म या तो वे स्वयं जानते हैं या सरस्वती या ब्रह्मा जानते हैं—अन्य जन तो नहीं ही जानते।[4] वे और उनकी वाणी अजर-अमर-अविनाशी हैं जिनके उद्धरण से ऋषि-कल्प महापुरुष भी अपनी उक्ति को प्रमाणित-समर्थित

---

१ कालिदासवचः कुत्र, व्याख्यातारो वयं क्व च ।
तदिदं मन्दीपेन, राजवेश्मप्रवेशनम् ॥

—वल्लभदेव (टीकाकार)

२ अमृतेनेव संसिक्ताश्चन्दनेनेव चर्चिताः ।
चंद्रांशुभिरिवोद्घृष्टाः, 'कालिदासस्य' सूक्तयः ॥

—कस्यचित्

३ गीता रहस्य की भूमिका में लोकमान्य तिलक ने यह सूचना दी है। श्लोक इस प्रकार हैं—

'अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रांतसंस्तीर्णदर्भाः ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धै-र्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयंतु ॥'

४ कालिदासगिरां सारं, 'कालिदासः' सरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा विद्यात्साक्षान्नान्येतु मादृशाः ॥

—मल्लिनाथ

करते हैं।[1] प्रकृति का जो प्रभाव प्रेमीजनों के हृदय पर पड़ता है उसको व्यक्त करने की निपुणता से और कल्पना की उत्कृष्टता तथा बहुलता से श्री कालिदास सब जातियों के कवियों में सर्वोपरि स्थान पाने की योग्यता रखते हैं।[2] श्री कालिदास भारतीय कवितारूपी गगनमण्डल के उज्ज्वल नक्षत्र हैं।[3]

कालिदास की शृंगाररस की कविता हमारे कानों में आज भी वैसे ही गूंजती है जिस प्रकार वह अपने देशवासियों के कानों मे हजारों वर्ष पूर्व गूंजती थी। इन्दुमती, सीता, पार्वती, यक्षवधू, शकुन्तला आदि, सती-साध्वी सुकुमार तथा साहसी नायिकाओं के आदर्श हैं।......सब ही देशों के कवियों में कविता का प्रवाह भी मिल सकेगा और बुद्धि की प्रखरता तथा सर्वव्यापकता का अभाव भी न मिलेगा। परन्तु इन दोनों गुणों का एक ही कवि में समावेश संसार की दृष्टि में बारह बार से अधिक नहीं मिलेगा। कालिदास में इन दोनों गुणों का सम्मिश्रण होने से ही उनकी गणना 'एनेक्रियोन', 'होरेस' और 'शेली' से भी बढ़ कर सोफाकलीज-वर्जिल और मिल्टन कवियों में जैसी होती है।[4]

कालिदास की कविता में अश्लीलता तथा ग्रामीणता कहीं तनिक

---

१ कुमारिलभट्ट ने अपने 'तंत्र-वार्तिक' ग्रंथ में सदाचार-प्रामाण्य के प्रकरण में लिखा है—

एवं च विद्वद्वचनाद्विनिर्गतं, प्रसिद्धरूपं कविभिर्निवेदितम्।

'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु, प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥'

इसका पूर्वार्ध कुमारिल का है और इसके समर्थनार्थ उन्होंने उत्तरार्ध कालिदास के पद्यार्ध से पूर्ण किया है।

२ एलेक्जेंडर फानहमबोल्ट।

३ प्रो० लासेन।

४ प्रो० ए० डब्ल्यू० राइडर।

भी नहीं पाई जाती। उसकी अनूठी उक्ति शुद्ध एवं मार्मिकतागर्भित रहती है। पृथ्वी के समस्त विषयों को ग्रामीणजन सदा कुत्सित माना करते हैं; उन लोगों की अप्रशस्त बुद्धि में यही बात समायी रहती है कि स्त्रियां केवल उपभोग की वस्तु हैं—परन्तु यह अनुचित समझ कालिदास की कविता में कहीं दृष्टिगत नहीं होती।[१] किसी भी अन्य संस्कृत-कवि ने उपमा और रूपकों का इतना सुन्दर प्रयोग नहीं किया है, जितना केवल कालिदास ने[२]। माधुर्य और प्रसादगुण को कालिदास ने पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। वैदर्भी रीति के वे अप्रतिम आचार्य हैं। कहा गया है—

'वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते'

असमासता, शब्दध्वनि और स्पष्टता का एकीभाव, उदात्तगुण, ओजस्विता और मनोज्ञता का अपूर्व सम्मिश्रण अलकरण और भाव-सौन्दर्य का एकत्र सन्निवेशन ये सभी गुण कालिदास की रचना में विद्यमान् हैं।[३] आजकल कालिदास के काव्यरस को पान कर कौन तृप्त नहीं होता।[४] एक के बाद दूसरी उपमा द्वारा अर्थगौरव बढ़ाने में, प्रकृति के दृश्यों का चित्र बना देने में, तेजी से बड़ी बड़ी कथा कह जाने में, गौण को पीछे रखकर प्राधानस्थिति को दृष्टिगोचर कराने में कालिदास की समता कोई कवि नहीं कर पाया है।[५] इङ्गलैण्ड के इतिहास में जैसे ही युग के प्रतिनिधि महाकवि शेक्सपियर है—भारत के इतिहास में वैसे ही युग के चतुर चित्रकार महाकवि कालिदास हैं। जगत् के सभी विद्वानों में उनकी लोकोत्तर प्रतिभा की—कोमलकान्त कविता और नाट्यकला की

---

१ कृष्णविष्णु शास्त्री चिपलूणरकर का 'संस्कृत कविपंचक।' पृ० ४०

२ नरसिंह—चिंतामणि केलकर का मत

३ वेदव्यास एम्० ए० का 'संस्कृत साहित्य का इतिहास।' पृ० १००

४ डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का 'संस्कृत का अध्ययन।' पृ० ७९

५ डा० वेनीप्रसाद की 'हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता।' पृ० ४२०

मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।[1] भारतीय आत्मा की जैसी पूर्ण चौमुखी अभिव्यक्ति कालिदास की कृतियों में हुई है, वैसी न तो वैदिक ऋचाओं में पाई जाती है, न उपनिषदों के तत्वचिन्तन में और न बुद्ध तथागत के 'सुत्तो' म। कालिदास मानो भारत के हृदय हैं। वे हमारे सामने भारतीय आदर्शों का चौमुखा समन्वय रखते हैं। शाकुन्तल में वे आरम्भिक आर्यों की वीरता और साहस से पूर्ण सरस जीवन के आदर्श को अंकित कर अमर कर गये हैं तो रघुवंश में रघु-दिग्विजय के बहाने भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता को एक सजीव ध्येय के रूप में रख गये हैं।[2]

धर्म, संस्कृति और भाषा की तरह ही श्रेष्ठ ग्रन्थकार भी राष्ट्र के एकीकरण और उत्थान में सहायक होते हैं इसका उत्कृष्ट उदाहरण कालिदास हैं। उत्तर मे पजाब से लेकर दक्षिण में मद्रास तक और पश्चिम में महाराष्ट्र से लेकर पूर्व में बगाल तक सभी प्रान्तों के विद्वानों ने कालिदास को अपना ही समझ कर उसके कालनिर्णय में जीवन-चरित में प्रकाश डाला है। और उनके ग्रन्थों के गूढ रहस्यों को प्रकट करने में सहायता दी है। यूरोपीय विद्वानों को भारतीय संस्कृति और संस्कृतभाषा का प्रथम परिचय कालिदास के ग्रन्थों से ही हुआ। आज स्वतन्त्र समृद्ध पाश्चात्य देशों को दरिद्र परतन्त्र भारतीय लोगों के पास अभिमानपूर्वक उल्लेखनीय वस्तुओं मे कालिदास की कृतियों का समावेश आवश्यक है। ऐसे सर्वश्रेष्ठ महाकवि के ग्रन्थों को कौन भारतीय साभिमान होकर नहीं पढ़ेगा।[3]

---

१ गंगाप्रसाद मेहता का 'चंद्रगुप्त विक्रमादित्य।' पृ० ११४

२ जयचंद्र विद्यालंकार का 'भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न' पृ० ३८

३ वासुदेव विष्णु मिराशी-प्रणीते 'कालिदास' पृ० ३८१

किंवदन्तियों के कालिदास

—:०:—

किंवदन्तियों के द्वारा '३' का '६' कैसे बन जाता है—यह बतलाने की आवश्यकता नहीं फिर भी मेरे देश का बच्चा-बच्चा 'कालिदास' के विषय में कोई न कोई मनगढ़न्त कहानी सुनना-सुनाना जानता है। संस्कृत-साहित्य में केवल इसी उद्देश्य से 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' और भोज-प्रबन्ध जैसे सरस ग्रन्थ भी निर्मित कर दिये गये हैं जिनके एक-एक सन्दर्भ सहृदयों की सुप्त अनुभूति को जगाने में समर्थ हैं। इन अनुश्रुतियों में भारतीय जनशक्ति की एक झिलमिल झलक है और है नव-नव-कल्पनाओं का अतिरञ्जक-रूप। अतः लोक-संग्रह की दृष्टि से कुछ 'कपोल-कल्पनायें' इस प्रकरण में संगृहीत की जाती हैं।

(१)

कालिदास ब्राह्मण-बालक थे। जब वे ५--६ मास के थे तभी उनके माँ-बाप चल बसे और वे अनाथ हो गये। संयोग की बात एक ग्वाले की दृष्टि पड़ी—वह इस मातृ-पितृ-हीन बालक को अपने घर ले जाकर लालन-पालन करने लगा। जब कालिदास कुछ बड़े हुये तो अपने हमजोली ग्वाल-बालों के साथ खेल कूद में मस्त रहते थे। रंग उनका गोरा था और शरीर था सुगठित तथा हृष्ट-पुष्ट। अठारह वर्ष की अवस्था तक निरक्षर भट्टाचार्य बने रहे।[१]

---

१ R. V Tullw traditionary. Account of Kalidas. Ind. ant voi xii P.P.115-7

(२)

एक कथा कालिदास की मिथिला में प्रसिद्ध है। कालिदास उन्हीं शिष्यों में से थे जिनका परिगणन 'दुर्बुद्धि' की श्रेणी में होता है। गुरु के चौपाड़ पर रहते तो थे पर बोध एक अक्षर का नहीं था। केवल खड़िया लेकर जमीन पर घिसा करे—अक्षर एक भी न बने। मिथिला में एक प्राचीन देवी का मन्दिर 'उचैठ गाव' में हैं। वहाँ अब तक जंगल-सा है। कालिदास जहाँ पढ़ने को गये थे वह चौपाड़ इसी मन्दिर के कोस दो कोस के भीतर कहीं था। एक रात को अन्धकार छाया हुआ था, पानी जोर से बरस रहा था। विद्यार्थियों में शर्त होने लगी कि यदि इस भयङ्कर रात में कोई देवी जी का दर्शन कर आवे तो सब लोग मिलकर उसके लिये स्याही या कागज बना देंगे। किसी भी विद्यार्थी को यह शर्त स्वीकार करने का साहस न हुआ।

कालिदास उजड्ड तो थेही-कहा-मैं जाऊँगा। 'फिर मन्दिर मे गया' इसका प्रमाण क्या होगा-इसका निश्चय हुआ कि जो जाय सो स्याही लेता जाय-मन्दिर के दीवार पर अपने हाथ का छापा लगा आवे। कालिदास गये-पर मन्दिर के भीतर जाने पर उन्हें सन्देह हुआ कि दीवार में हाथ का छापा लगावें तो कदाचित् पानी के बौछार से मिट जायगा। इस डर से उन्होंने निश्चय किया कि देवी की मूर्ति के मुह में ही स्याही का छापा 'लगा दिया जाय तो' ठीक होगा। ज्योंही हाथ बढ़ाया त्योंही मूर्ति खिसकने लगी। कालिदास ने पीछा किया। अन्ततो गत्वा देवी प्रत्यक्ष हुई।[1]

(३)

सम्राट् विक्रमादित्य की एक कन्या 'प्रियङ्गुमञ्जरी' नामक थी। उसे

---

[1]महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा लिखित; कविरहस्य पृ० १९

पढ़ाने का भार 'वररुचि' नामक विद्वान् पर था। धीरे-धीरे वह विदुषी हो उठी। एक बार घाम लगने से राजमहल की छाया में जरा सा श्रान्त होते हुए वररुचि को राजकन्या ने खिड़की से देखा। वहीं से उसने पके-पके मीठे-आम्रफलों को दिखलाकर वररुचि से पूछा ये फल आप को ताजे-गरम या बासी-पुराने अच्छे लगते हैं? वररुचि से 'गरम अच्छे लगते हैं' का उत्तर पाकर राजकन्या ने इस चतुराई से फलों को नीचे गिराया कि वे, वररुचि के द्वारा पसारे हुए वस्त्र पर न गिरकर अलग धूलि भरे पथ पर गिरे। तुरन्त ही उन फलों को उठाकर वररुचि ने मुँह से फूँक कर—धूल उड़ा कर फलों को वस्त्र में रखना आरम्भ किया। इस पर हँसती हुई राजकन्या ने आक्षेप किया कि जब आपको 'गरम फल' ही पसन्द हैं तो फूंक मार कर ठण्डा क्यों करते हैं? इस आक्षेप से क्रुद्ध होकर वररुचि ने शाप दिया कि हे पण्डित्-मानिनि! तुम्हें अपनी विद्या का बड़ा अभिमान है—अतः तुम्हारे अभिमान को तोड़ने के लिये तुम्हारा पति एक 'पशुपाल' ही होगा। यह सुनकर राजकन्या ने कहा कि मैं उसी से विवाह करूँगी जो तुमसे भी अधिक विद्या में पारङ्गत होगा। इस घटना के बाद राजकन्या को सर्वाङ्ग सुन्दरी और वयस्क देखकर विवाह-योग्य वर की खोज में सम्राट् ने वररुचि को भेजा। वररुचि ने न जाने कहां से एक भैंस-चराने वाले मूर्ख को पकड़ कर छः महीने उसे कपड़ा पहिनने और 'ॐ नमः शिवाय' कहने की शिक्षा दी और राजदरबार में शुभमुहूर्त में ले जाकर सम्राट् के सामने 'ॐ नमः शिवाय' कहवाया, पर भूल से कालिदास ने 'ऊ शरट' ऐसा शब्द कह दिया, उसका भाव वररुचि ने इस प्रकार कहा—

> **'उमया सहितो रुद्रः, शंकरः शूलपाणिभृत्।**
> **रक्षतु त्वां महीपाल! टंकार बलगर्वितः' ॥**

अर्थात् उमा के साथ शंकर भगवान्, शूल धारण कर, टकार-बलसे गर्वित होकर हे महीपाल ! तुम्हारी रक्षा करे। और इस भाँति राजा को समझा-बुझा 'षड्यन्त्र पूर्वक' विवाह करा दिया।[1]

(४)

विवाह होने पर अन्तर्गृह में जाने पर जब स्त्री— पुरुषों ने बात की। तब स्वामी के मुख से ग्राम्य-शब्द सुनकर कन्या चौंक उठी। और अत्यन्त तिरस्कार कर उन को घर से बाहर निकाल दिया। कहते हैं इस प्रकार स्त्री से तिरस्कृत होकर प्राणत्याग की इच्छा से कालिदास सरस्वती कुण्ड मे कूद पड़े। उसमें उनका प्राणत्याग न हुआ परन्तु मूर्ख कालिदास कवि कालिदास के रूप में परिणत होगए। सरस्वती-माहात्म्य से काव्य शक्ति का वरदान पाकर पुनर्वार स्त्री के निकट गये और उसके गृह का द्वार बन्द देख कर निम्न-लिखित श्लोक कहा—

कपाटमुद्घाटय, चारुलोचने !, कन्दर्प शत्रुर्मम पृष्ठलग्नः।
शान्त्यै नु तस्यात्र समागतोऽहं, चंद्रानने ! त्वां शरणं प्रपद्ये ॥

अर्थात् हे चन्द्रमुखि ! मनोहर लोचनो वाली ! किवाड़ जल्दी खोलो, कामदेव रूपी शत्रु मेरा पीछा कर रहा है। उसकी शान्ति के लिये ही मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। स्त्री ने स्वर सुनकर स्वामी का आगमन जानकर द्वार न खोला किन्तु गृहमध्य से ही प्रश्न किया—

'अस्ति कश्चिद्वाग्विशेषः'—क्या कुछ वाणी में विशेषता आगई ? कहते है स्त्री के इस वाक्य की चिरस्थायी स्मृति के लिए ही कवि कालिदास ने

---

[1] मेरुतुङ्गकृत 'प्रबंधचिंतामणि' पृ० ६

(१) 'अस्ति' से "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नामनगाधिराजः"
आदि श्लोकों से कुमार 'सम्भव-महाकाव्य'

(२) कश्चित से "कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तङ्गमित महिमा वर्षभोग्येण भर्तुः"
आदि श्लोकों से मेघदूत

(३) वाग्विशेषः से 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये' आदि पूर्वक
रघुवंश को लिखा।[1]

(५)

इस प्रकार की कथाओं की भरमार भोजप्रबन्ध में देखते बनती है। इस 'कपोलपुराण' से पाठकों को कोई लाभ तो हो नहीं सकता परन्तु

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।'

के अनुसार सुभाषित सूक्ति-मौक्तिकों की एक लघु-कणिका भेंट की जाती है।

एक बार राजा भोज के दरबार में वररुचि-बाण-मयूर-रैफण-हरिशंकर-कलिंग-कर्पूर-विनायक-मदन-विद्याविनोद-कोकिल-तारेन्द्र (!) आदि कवि शोभायमान थे। बाहर से एक कवि आये और दक्षिण हस्त उठा कर आशीर्वाद दिया—

'राजन्! अभ्युदयोऽस्तु' (हे राजन्! तुम्हारा कल्याण हो)

राजा – शंकर कवे! किं पत्रिकायामिदम्

(तुम्हारे हाथ में पड़े कागज में क्या लिखा है?)

कवि—पद्यम् (पद्य है)

---

१ पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत रघुवंश भाषानुवाद की भूमिका।

राजा—**कस्य** (किसका पद्य है ?)

कवि—**तवैव भोजनृपते** (हे भोज ! तुम्हारा ही पद्य है)

राजा—**तत् पठ्यताम्** (तो पढ़ो)

कवि—**पठ्यते** (पढ़ रहा हूँ)

एतासामरविन्दसुन्दरदृशां द्राक्चामरान्दोलनात् ।
उद्वेल्लद्भुजवल्लिकङ्कणझणत्कारः क्षणं वार्यताम् ॥

हे राजन् ! चंवर डुलाने वाली इन कमलनयनियों की भुजाओं के हिलने-डुलने से बजने वाले कगनो की झनझनाहट क्षण भर के लिये बन्द करिये—

राजा शङ्कर कवि की इस उक्ति पर प्रसन्न होकर १२ लाख मुद्राओं का पुरस्कार देकर घर में चले गये । अब सब लोग आपस में काना-फूँसी करने लगे। वेद-शास्त्र-विचक्षणों और महा-कवियों को छोड़ कर एक अन्य कवि के लिये १२ लक्ष देने वाला यह राजा बुद्धि हीन है। इसी कोलाहल के बीच कनक-माणि-कुण्डलधारी दिव्य चीनांशुक का चदरा ओढ़े, राजकुमार की भाँति कस्तूरी-अङ्गराग से सुसज्जित शरीर, ताजे-खिले फूलों की माला गले में डाले, स्वरूपधारी काव्य, मूर्तिमान् विलास और शृङ्गाररस के प्रवाह की तरह एक व्यक्ति उन लोगों के बीच आया। महीतल में इन्द्र के सदृश उसकी शोभा को देख कर सारी विद्वन्मण्डली भय और कौतू-हल से मौन शान्त हो गई। नवागत व्यक्ति ने भोज का पता लगा कर फिर विद्वानों को एक-एक ताम्बूल भेंट किया और कहा देखिये, आप लोगों को राजा के द्वारा शङ्कर कवि को दिये गये १२ लाख के पुरस्कार पर रोष नहीं करना चाहिये। राजा ने कवि को तो १ लक्ष ही दिया किंतु शङ्कर भगवान् के एकादश मूर्त्तियों का ध्यान कर तदर्थ भी ११ लक्ष और देकर १२ लक्ष पूरा कर दिया। इस युक्तियुक्त और सामयिक

उत्तर से सारी सभा वशीभूत-सी हो उठी ! तब तक नवागत की सारी-बातें भोज के पास अन्तःपुर में भी पहुँच गईं। भोज ने तुरत उन्हें महल में अपने कमरे में बुला कर सम्मान किया और पूछा हे विप्र ! आपके नाम में आने से कौन-कौन अक्षर सौभाग्यशाली हैं ?—(अर्थात् क्या नाम है !) तथा वह कौन देश है जो आपके विरह से आज दुःखित है (अर्थात् आप कहाँ के निवासी हैं ?) उत्तर में नवागत ने 'कालिदास' और 'मालवा' बतलाया। फिर तो भोज चरण पर गिर पड़े। उस दिन वाग्विलास करते-करते सन्ध्याकाल हो गया। भोज ने कहा सखे ! सन्ध्या का वर्णन करो। कलिदास ने कहा सुनिये—

'व्यसनिन इव विद्या क्षीयते पङ्कजश्रीः ;
गुणिन इव विदेशे दैन्यमायान्ति भृङ्गाः।
कुनृपतिरिव लोकं पीडयत्यन्धकारो ;
धनमिव कृपणस्य व्यर्थतामेति चक्षुः ॥'

अर्थात् इस (सन्ध्या के) समय कमलों की शोभा व्यसनी की विद्या की भाँति क्षीण हो रही है, विदेश मे घूम रहे गुणियो के समान भ्रमर दीनता को प्राप्त हो रहे हैं, अत्याचारी राजा की तरह अन्धकार संसार भर को पीडित कर रहा है, सूम के धन के सदृश आखें दुबकी जा रही हैं।

(६)

एक बार सन्ध्याकाल हो रहा था। राजा भोज अपने साथ 'वाण' 'महेश्वर' और 'कालिदास' को लेकर टहलने के लिये निकल पड़े थे। भोज ने सन्ध्याकालीन प्रकृति का अनुपम चित्र देखकर एक पद कहा—

१ **परिपतति पयोनिधौ पतङ्गः।** (अर्थात् सूर्य समुद्र में गिर रहा है)

तब वाण ने कहा—

'सरसिरुहामुदरेषु मत्तभृङ्गः' (कमलों के कोशों में मतवाले भ्रमर बन्द हो रहे हैं)

उसके बाद महेश्वर ने कहा—

'उपवनतरुकोटरे विहङ्गः'

(बाग-बगीचों के वृक्षों के घोंसलों में पछी जा रहे हैं)

अन्त में कालिदास ने कहा—

'युवतिजनेषु शनैः शनैरनङ्गः'

(तरुणियो में अनंग धीरे-धीरे प्रवेश कर रहा है) । फिर राजा भोज ने तीनों चरणोंका १-१ लाख, चौथे चरण का २ लाख पुरस्कार दिया ।

(७)

एकबार भवभूति और कालिदास में छोटे-बड़े का झगड़ा चला । भवभूति ने कहा मैं बड़ा तुम छोटे और कालिदास ने कहा तुम छोटे मैं बड़ा । राजा भोज ने कहा सरस्वती जी से निर्णय कराया जाय । फिर तो भुवनेश्वरी का मन्दिर लता-तोरण-फूलपत्ती से सजाया गया । घट में प्रतिष्ठा की गई । देवी के हाथ में सोने की तराजू रख कर उसके दोनों पलड़ों पर कालिदास-भवभूति की एक-एक कविता रख दी गई । तब भवभूति की कविता को कुछ हलकी पड़ती देख कर भगवती ने वाम-हस्त के नख से कर्ण-कमल का मकरन्द लेकर उस पर छिड़क दिया कि कुछ गरिमा आ जाये ।—इस युक्ति को कालिदास ने ताड़ लिया और कहा—

'अहो मे सौभाग्यं मम च भवभूतेश्च भणितम् ;
तुलायामारोप्य प्रतिफलति तस्यां लघिमनि ॥
गिरां देवी सद्यः श्रुतिकलितकल्हारकलिका ;
मधूलीमाधुर्यं क्षिपति परिपूर्त्यै भगवती ॥

धन्य है मेरा सौभाग्य ! कि मेरी और भवभूति की कविता प्रति-योगिता में उसकी कविता के हलकापन को दूर करने के लिये सरस्वती

देवी, अपने कर्ण-कमल की पंखड़ी के मकरन्द की मधुरिमा को छिड़क रहीं हैं !!

(८)

इस प्रकार की 'भद्रभदन्तोक्तियाँ' अपनी सचाई का फैसला अपने आप करती हैं। अश्रद्धेय होने के साथ-साथ इनका अधिक प्रचार भी श्रेयस्कर न समझ कर इस प्रकरण का स्वरूप सर्वदा संक्षिप्त किया गया है। इस प्रकार की प्रवृत्तियों का जनरुचि पर कैसा प्रभाव पड़ता हैं इसका अनुभव सम्भवतः वङ्ग-रत्न बा० वंकिमचन्द ने भली-भाँति किया था तभी तो उन्होंने 'विषवृक्ष' के पाठकों को कथावस्तु के प्रति उन्मुख करने के लिये उसके षष्ठ-परिच्छेद के प्रारम्भ में यह 'प्ररोचना' आविष्कृत की है—

कविवर कालिदास की एक मालिन थी, वह नित्य उन्हें फूल पहुँचाया करती थी। कालिदास दरिद्र ब्राह्मण थे, फूल का दाम नहीं दे सकते थे–उसके बदले में अपना बनाया हुआ काव्य उके पढ़कर सुनाते थे। एक दिन मालिन के तालाब में एक बहुत सुन्दर कमल का फूल खिला था। मालिन ने वह लाकर कालिदास को उपहार दिया। उसके पुरस्कार में कविवर उसको मेघदूत पढ़कर सुनाने लगे। मेघदूत काव्य-रस का भाण्डार है, लेकिन सभी जानते हैं कि उसके आरम्भ के कुछ पद्य नीरस हैं। मालिन को अच्छा न लगा, वह विरक्त होकर उठ चली। कवि ने पूछा, क्यों मालिन जाती हो क्या ?

मालिन ने कहा—तुम्हारी कविता में रस नहीं है।

कवि—तुम कभी स्वर्ग नहीं जाओगी।

मालिन—क्यों ?

कवि—स्वर्ग जाने की सीढ़ी है, लाखों सीढ़ियाँ लाँघकर स्वर्ग जाना होता है। मेरे इस मेघदूत काव्य रुपी स्वर्ग तक पहुँचने के लिये भी

साढियाँ बनी हैं. यह नीरस पद्य ही उस स्वर्ग की सीढ़ी है। तुम इस सामान्य सीढ़ी को नहीं लाँघ सकी, तब लक्ष योजन की सीढ़ियों को कैसे लाँघ सकोगी ?

मालिन ने ब्रह्म शाप से स्वर्ग प्राप्ति के भय से आद्योपांत मेघदूत सुना। समग्र सुन चुकने पर बड़ी प्रसन्न हुई। दूसरे दिन मदनमोहनी नामकी विचित्र माला गूँथकर कवि के गले में पहिरा गई !!

(९)

उनकी मृत्यु के सम्बन्ध का भी प्रवाद कम रोचक नहीं है। सुनते हैं कालिदास एकबार अपने मित्र कुमारदास से मिलने सिंहेल द्वीप गये। वहा उन्होंने किसी वेश्या से सुना कि—

'कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते'

(कमल से कमल की उत्पत्ति सुनते तो हैं पर देख नहीं पाते)।
इसकी पूर्ति के लिये राजा (कुमारदास ही सिंहल के राजा भी थे) ने कई हजार का पुरस्कार भी घोषित किया था। कालिदास ने शीघ्र वेश्या के सामने ही पूर्ति कर दी –

'बाले ! तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम्'

(हे बाले ! तुम्हारे मुख-कमल पर दो नील कमल नेत्र) कैसे आये ! वेश्या ने पुरस्कार के लोभ में अपने घर में ही कालिदास को मरवा डाला। कुमारदास को किसी तरह पता लगा। वेश्या को प्राणभय दिखा कर उन्होंने लाश बरामद की, चिता लगवा कर कालिदास का शव-दाह करवाया और स्नेह-आधिक्य से उन्मत्त होकर स्वयं भी कूद कर जल मरे। इन्हीं कुमारदास का 'जानकी हरण' महाकाव्य प्रसिद्ध है, जिसके विषय में यह उक्ति कही जाती है—

'जानकीहरणं कर्तुं 'रघुवंशे' स्थिते सति ।
कविः 'कुमारदासो' वा 'रावणो' वा यदि क्षमः ॥'

'रघुवश' (राम आदि) के रहते-रहने यदि 'जानकी हरण' करने में दो ही समर्थ हुए एक रावण दूसरे कुमारदास !! स्वर्गीय महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण का कथन है कि सिंहल द्वीप के दक्षिणी प्रान्त के माटर नामक सूबे में जहां करन्दी नदी भारत सागर में गिरती है, कालिदास की चिता का स्मारक बना हुआ है । 'पराक्रम बाहु चरित' से भी इस बात की पुष्टि होती है ।[1]

---

१ विश्वेश्वरनाथ रेऊ, 'राजाभोज' पृ० २०१

धन्वन्तरि

—: :—

गत परिच्छेदों में 'प्रधानमल्लनिर्बहण' न्याय से विक्रम और उनके प्राणभूत कालिदास के विषय में कुछ कहने-सुनने के पश्चात् अवशिष्ट ८ रत्नों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है। क्रम की दृष्टि से नवरत्नों में धन्वन्तरि का स्थान प्रथम है।

धन्वन्तरि परम्परा में अवतार-पुरुष माने जाते हैं।

क्षीरस्वामी की अमरकोष-टीका के बनौषधि वर्ग के ५० वें श्लोक की व्याख्या से यह ज्ञात होता है कि धन्वन्तरि का कोई 'कोष' भी था। अतः ये अमरसिंह के पूर्ववर्ती हैं—इसमें सन्देह नहीं। 'आफ्रेक्ट' की सूची में इनके प्रणीत ६ ग्रन्थों के नाम मिलते हैं। 'श्रीमद्भागवत' 'ब्रह्मवैवर्तपुराण', 'हरिवंश', आदि में यह पढ़ने को मिलता है कि ये साक्षात् भगवान् विष्णु के अंशावतार थे और समुद्रमन्थन के समय आविर्भूत हुये। एक स्थान पर पौराणिक-प्रणाली से मिलता-जुलता और इतिहास से भी सम्बद्ध वर्णन इस प्रकार आया है—"एक बार देवराज इन्द्र को पृथिवी के प्राणियों को रोग-ग्रस्त देख कर परम व्यथा हुई और उन्होंने तुरत धन्वन्तरि भगवान् से उनका दुख दूर करने की प्रार्थना की और अपनी समस्त आयुर्वेद-विद्या उन्हे पढ़ा कर पृथिवी तल पर भेज दिया। वे धन्वन्तरि काशी में दिवोदास नाम से उत्पन्न हुये और बाल्यावस्था में ही घोर तप के प्रभाव से काशीनरेश हो गये और फिर

छात्रों को संहिता का अध्ययन कराया।"[1]

इस उपाख्यान की पुष्टि 'सुश्रुत संहिता' से भी होती है। इन्हीं काशिराज धन्वन्तरि के आयुर्वेद-सम्बन्धी व्याख्यानों का संग्रह सुश्रुत ने किया है।[2] वहाँ आयुर्वेद की ज्ञान-परम्परा बतलाते हुये धन्वन्तरि ने कहा है कि ब्रह्मा से प्रजापति, उनसे अश्विनीकुमार, उनसे इन्द्र,

---

१ एकदा देवराजस्य, दृष्टिर्निपतिता भुवि।
तत्र तेन नरा दृष्टा, व्याधिभिर्भृशपीडिताः॥
तान् दृष्ट्वा हृदयं तस्य, दयया परिपीडितम्।
दयार्द्रहृदयः शक्रो, धन्वन्तरिमुवाच तम्॥
धन्वन्तरे! सुरश्रेष्ठ! भगवन्! किंचिदुच्यते।
योग्यो भवसि भूतानामुपकारपरो भव॥

× × ×

इत्युक्त्वा सुरशार्दूलः, सर्वभूतहितेप्सया।
समस्तमायुषो वेदं, धन्वन्तरिमुपादिशत्॥
अधीत्य चायुषो वेदमिन्द्राद् धन्वन्तरिः पुरा।
आगत्य पृथिवीं काश्यां, जातो बाहुजवेश्मनि॥
नाम्ना तु सोऽभवत् ख्यातो, दिवादास इति क्षितौ।
बाल एव विरक्तोऽभूच्चचार सुमहत्तपः॥
यत्नेन महता ब्रह्मा, तं काश्यामकरोन्नृपम्।
ततो धन्वन्तरिर्लोके काशिराजोऽभिधीयते॥

—भावप्रकाश, पूर्वखंड, प्रथम भाग।

२ 'यथोवाच धन्वन्तरिः'।

और इन्द्र से मैंने इस विद्या को सीखा है।[1] देवों मे मैं ही सर्वप्रथम रोगादि का अपहारक हूँ–(शक्य-शालाक्य-कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य-अगदतन्त्र-रसायनतन्त्र-बाजीकरण) आदि विभागो से युक्त आयुर्वेदशास्त्र के उपदेशार्थ पृथिवी पर अवतीर्ण हूँ।[2] इन्हीं धन्वन्तरि के उपदेश स सुश्रुत ने अपनी सहिता लिखी। धन्वन्तरि अर्थात् दिवोदास को ही सब से पूर्व 'रोहण' (Art of Mealing) के आविष्कार का श्रेय मिला है। सुश्रुत सहिता में ६६ अध्याय हैं। यह आयुर्वेद के मूल ग्रन्थों में से एक है। इस पर 'डल्हणाचार्य' की टीका है। जान पड़ता है कि वर्तमान संहिता सुश्रुतसंहिता के प्राचीन प्रति का परिष्कृत रूप है। इस ग्रन्थ की लेख-प्रणाली सम्पूर्ण नियमबद्ध और वैज्ञानिक है और उनमें सुन्दर रीति से विचार की हुई कल्पनाये और वाद उपस्थित हैं। इसका सम्मान आर्षग्रन्थ के रूप में होता है। इसी-लिये आयुर्वेद को भी आम्नाय की भाँति अपौरुषेय कहा जाता है। सुश्रुत शल्य-तन्त्र का ग्रन्थ है-इसमें कई कारणों से रुधिर को भी प्रधा-न्य दिया जाता है। यही सुश्रुत का मत पश्चिम में पहुँचा है। अरबी की सब से प्राचीन चिकित्सा-पुस्तक में 'सुश्रुत' का उल्लेख 'सुशरुदा' के रूप में हैं। इससे स्पष्ट है[3] कि असली यूनानी चिकित्सा का आधार

---

१ ब्रह्मा प्रोवाच, ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनौ, अश्विभ्या-मिन्द्रः, इन्द्रादहम्।

२ अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो-जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम्।
शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं, प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम्॥

(सुश्रुतसंहिता, १ अध्यायः)

३ 'प्राचीन शल्यतंत्र' (कविराज अत्रिदेव) पृ० ३३।

भी 'सुश्रुत' ही है।[1] धन्वन्तरि-सम्प्रदाय को आयुर्वेद-विज्ञान में एक स्वतन्त्र स्थान प्राप्त है।

इनके नाम से एक 'धन्वन्तरिनिघण्टु' मिलता है। इसमें ६ अध्याय हैं। इसमें पारिभाषिक शब्दों के अर्थ तो हैं ही उनके गुणदोष भी हैं। इसकी रचना पद्य-बद्ध है। परवर्ती सभी आयुर्वेद-कोष इसी के आधार पर हैं।

इस प्रकार इनके सिवा अन्य किसी भी प्रतिष्ठाप्राप्त धन्वन्तरि नामधारी व्यक्ति का कोई प्रामाणिक उल्लेख हमें नहीं मिलता। अतः सहृदयों का एक अनुमान ही शरण है कि अन्य उपाधियों की भांति राजाश्रित वैद्यों के लिए 'धन्वन्तरि' की उपाधि हो गई थी। 'आप तो साक्षात् धन्वन्तरि हैं' - यह उक्ति अभी तक सद्वैद्यों के प्रति कही जाती भी है। नेपाल-राजगुरु पं० हेमराज शर्मा तो काशीराज-वंश में भी 'धन्वन्तरि'—उपाधि के प्रति प्रेम प्रमाणित करते हैं इसी से 'दिवोदास का भी 'धन्वन्तरि' कहा जाना सगत होता है।[2] ऐसी स्थिति में (जब तक कोई दूसरा प्रमाण नहीं मिलता है) हम यह मानने को बाध्य हैं कि सम्राट् विक्रमादित्य के राजवैद्य ही अपनी चिकित्सा कुशलता के कारण 'धन्वन्तरि' कहलाये।

---

१ साहित्याचार्य (स्व०) पं० शालिग्राम शास्त्री का मत।

२ काश्यपसंहिता (बम्बई-संस्करण) की भूमिका, पृ० २९

क्षपणक

—:०:—

'क्षपणक' भी संस्कृत-साहित्य में एक समस्या ही के रूप में अभी तक वर्तमान हैं। नवरत्नों में दूसरा स्थान इन्हीं का है। इनके नाम से 'नानार्थध्वनिमञ्जरी' नाम की एक छोटी-सी कोष पुस्तिका उपलब्ध है। जिसमें श्लोकाधिकार तथा अर्धश्लोकाधिकार नाम के दो प्रकरणों में क्रमशः १०३ और २२१ श्लोक हैं और दोनों के अन्त में 'इति काश्मीराम्नाये महाक्षपणकविरचितानेकार्थध्वनिमञ्जर्यां श्लोकाधिकारः' यह पंक्ति अंकित है। यदि कोई काश्मीरी-सम्प्रदाय के रहस्यवेत्ता इस गूढ़ार्थ का स्फोट कर सकें तो, उत्तम हो। इस कोष के आरम्भ की ४ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

> शुद्धवर्णमनेकार्थं, शब्दमौक्तिकमुत्तमम् ।
> कर्णे कुर्वन्तु विद्वांसः, श्रद्दधाना दिवानिशम् ॥
> शब्दार्णवो यतोऽनन्तः, कुतो व्याख्या प्रवर्तते ।
> स्वानुबोधैकमानाय, तस्मै वागात्मने नमः ॥

यों, इस 'क्षपणक' शब्द का अर्थ नग्न बौद्ध या जैन सन्यासी है। उद्भट श्लोकों में कहीं कहीं पढ़ने में आता है—

> 'एक क्षपणक शाकाहर्ता, तत्र क्षपणक दश शाकाशा ।
> यत्र क्षपणक दशशाकाशा, तत्र क्षपणक का शाकाशा ॥'[1]

किन्तु उपर्युक्त नानार्थध्वनि मंजरी से इस प्रकार का कोई संकेत नहीं

---

१ शब्दकल्पद्रुम (राधाकान्त देव बहादुर) द्वितीयखण्ड पृ० २२८

मिलता है। मेरी देखी हुई सूक्ति-सुभाषित-पुस्तिकाओं में इनके नाम की कोई रचना (श्लोक आदि) नहीं देखने में आई। कहा जाता है कि बर्लिन की एक प्राचीन ग्रन्थ-सूची तथा जैनभण्डार पाटन की ग्रन्थसूची में इन्हें 'फलित (ज्योतिष) ज्ञाता' कहा गया है।

संस्कृत-वाङ्मय में इसके सम्बन्ध की कोई विशेष चर्चा भी नहीं है। राहुल सांकृत्यायन ने इन्हें हर्ष-विक्रम की सभा का रत्न तथा बौद्ध-सन्यासी माना है। परन्तु मेरी धारणा में इन्हे जैन मानना ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

श्रीयुत ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की सम्मति में जैन-आगम के ख्यात नामा ग्रन्थकार आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का ही दूसरा नाम क्षपणक है।[1] इन सिद्धसेन के विषय में प्रबन्धचिंतामणि मे भी एक 'ऊटपटांग' कपोल-कथा मिलती है। इनका भी जन्म स्थान विदित नहीं है परन्तु वे जन्मतः वैदिक धर्मी ब्राह्मण थे और यथावसर जैनाचार्य वृद्धवादी सूरि से शास्त्र-चर्चा में हत-प्रभहोकर उन्हीं के द्वारा दीक्षित हो जैनधर्म में प्रविष्ट हुये। दीक्षा के समय इनका नाम 'कुमुदचन्द्र' पड़ा। ये असाधारण जैन-दार्शनिक हुये। जैन धर्म के शास्त्रीय न्यायदर्शन के संस्थापकों में इनका नाम सर्वतः पूर्व लिया जाता है। इनका प्रणीत 'न्यायावतार' ग्रंथ सर्व-प्रसिद्ध है। उसे जैन-तर्क-शास्त्र का प्रथम सोपान जैसा गौरवास्पद पद मिला है। ये श्वेताम्बर जैन थे। ये संस्कृत-प्राकृत के लोकोत्तर प्रतिभापूर्ण प्रयोक्ता थे। मध्यकाल के प्रधान भारतीय दार्शनिकों की विचार-धारा से पता लगता है कि उनके विचार उदार, तथा प्रतिभा स्वतत्र, थी। वे गद्य-पद्य-निर्माण में सिद्धहस्त, कठिनातिकठिन विषयों में शब्दबोध सम्पन्न तथा विविध दर्शनों में निष्णात थे अर्थात् उनकी प्रज्ञा-

---

१ 'भारतीय न्याय का इतिहास' पृ० १७३

ज्योति विश्वतोमुखी थी। जैन-तत्त्वज्ञों ने सर्व सम्मति से उनकी अस्खल-प्रवाहा कल्पना, वस्तुस्पर्शाभिमुखी तार्किकता एव प्रकृष्टपरिपाका काव्य-कर्मठता की भूरिभूरि प्रशंसा की है। कहा तो यहा तक जाता है कि हरिभद्राचार्य के षड्दर्शन-समुच्चय तथा माधवाचारी के सर्वदर्शन संग्रह में इनके सिद्धान्तों का अनुकरण प्राप्त होता है। इनके बनाये हुये ग्रथों में १ सन्मतितर्कप्रकरणम् (प्राकृत), २ न्यायावतारः ३ कल्याणमन्दिर (तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति) ४ एकविंशतिश्च द्वाविंशकाः के नाम मिलते हैं। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि जैनागम की शोधक-प्रेरणा के विद्वान् सुखलाल संघवी ने इनके 'क्षपणक' पद की चर्चा न करके इनके दूसरे नाम 'गन्ध हस्ती', और 'गन्धिहस्ति विवरणम्' नामक ग्रन्थ की सूचना दी है।[1]

सस्कृत—साहित्य में 'क्षपणक' के नाम से एक मात्र निम्न-लिखित सूक्ति मिलती है-

नीतिर्भूमिभुजां, नतिर्गुणवतां, ह्रीरङ्गनानां, रतिः ;
दम्पत्योः, शिशवो गृहस्य, कविता बुद्धेः, प्रसादो गिराम्।
लावण्यं वपुषः, श्रुतिः सुमनसां, शान्तिर्द्विजस्य, क्षमा ;
शान्तस्य, द्रविणं गृहाश्रमवतां, शीलं सतां, मण्डनम्।

अर्थात् राजाओं, गुणियों, स्त्रियों, पति-पत्नियों, मकानों, बुद्धि, वाणी शरीर, प्रसन्नमनों, ब्राह्मणों, तपस्वियों, गृहाश्रमियों और सज्जन पुरुषों, के अलंकार क्रमशः नीति, विनय, लज्जा, रति, बालक, कविता, प्रसाद, गुण, सौंदर्य, वेदज्ञान, शान्ति, क्षमा, धन, शील ये गुण हैं।

---

१ 'सन्मति-तर्क-प्रकरणम्' (अहमदाबाद-संस्करण) की गुजराती भूमिका।
२ 'संस्कृत-कवियों का समय निरूपण' (पटना) पृ० ३०

अमरसिंह

—:०:—

प्रयोगव्युत्पत्तौ प्रतिपदविशेषार्थकथने ;
प्रसत्तौ गाम्भीर्यें रसवति च काव्यार्थरचने ।
अगम्यायामन्यैर्दिशि परिणतानर्थवचसम् ;
मतं चेदस्माकं कविरमरसिंहो विजयते ॥

' प्रयोगों की शुद्धता में प्रत्येक पद के यथार्थ अर्थ के प्रकाशन में प्रसादगुण में, भावों की गभीरता में, रसशालिनी कविता की रचना में शब्द और अर्थ के अन्यजनदुर्लभ भाव-परिपाक में (यदि मेरी बात मानी जाय तो)—अमरसिंह कवि ही सर्वोत्तम हैं ।

- सदुक्तिकर्णामृतम्

अमरसिंह 'पुण्यैर्यशोलभ्यते' के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं । कुछ लोग इन्हें जैन मानते हैं परन्तु 'अमरकोष' के प्रारम्भिक मंगल श्लोक से इनका बौद्धत्व स्पष्ट झलकता है । देवताओं की नामगणना में सर्वप्रथम बुद्ध के १८ नामों की शृङ्खला प्रस्तुत करना इस तर्क को सत्य में परिणत कर देता है । यह भी प्रवाद है कि सम्राट् विक्रमादित्य शैव-धुरन्धर थे और ये बौद्ध ठहरे सो इन्होंने उनके क्रोध से बचने के लिये 'देव-विशेष' का नामोल्लेखन कर सामान्यवाचक 'सः' सर्वनाम लिख कर काम चला लिया । दूसरी ओर बहुतेरे वंगप्रान्तीय टीकाकारों ने अपनी युक्ति प्रसविनी मेधासे तथोक्त श्लोक के शैव-बौद्ध-परक व्याख्यायें भी करने की कृपा की है परन्तु यह सब प्रपंच भ्रम-विलसित नहीं तो गर्दभी दोहन-तुल्य तो है ही। गुणकपक्षपाती विक्रमादित्य और शुद्ध-बुद्ध

अमरसिंह दोनों के लिये ये आक्षेप अशोभन हैं। इनके बौद्ध होने का सबसे अधिक मारवान् प्रमाण है लोक-प्रसिद्ध बोधगया मन्दिर का प्राप्त शिलालेख जिससे यह ज्ञात होता है कि बौद्ध-मन्दिर को विक्रम-सभा के अन्यतम उज्ज्वल रत्न अमरसिंह ने निर्मित कराया।[२]

एक यह भी 'गल्प' है कि इन्होंने चिर-काल तक संयत-चित्त से नानाविध शास्त्रीय-ग्रन्थों का निर्माण किया और उन सभी ग्रन्थों को नौका पर लाद कर लंका से भारत आये—तब धर्मान्ध 'आर्यों' ने नास्तिक धर्म पर 'जिहाद' बोल कर उनकी उस ज्ञान-राशि को अतल-जल में डुबो दिया, केवल अमरकोष बच सका। इस परिच्छेद के आरम्भ में दी गई।

'कविरमरः कविरचलः कविरभिनंदश्च कालिदासश्च।
अन्ये कवयः कपयश्चापलमात्रं परं दधति'॥

इस सूक्ति से तथा राजशेखर की काव्य मीमांसा की—

'श्रूयते चोज्जयिन्यामिह काव्यशास्त्रकारपरीक्षा
इह कालिदासमेंठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिचंद्रचंद्रगुप्तौ परीक्षिता इह विशालायाम्।

जैसी पक्तियों से इनकी कवित्व-शक्ति की अप्रतिमता की सूचना मिलती है। कौन कह सकता है कि इनका कोई उत्तम काव्य हो और आज काल के 'वात्याचक्र' में विलीन हो गया हो! अब तो सूक्ति-संग्रहों

---

१ वह श्लोक यह है—

यस्य ज्ञानदयासिन्धोरगाधस्यानघा गुणाः।
सेव्यतामक्षयो धीराः स श्रिये चामृताय च॥

२ श्रीगिरिजा प्रसाद द्विवेदी का 'क्षीरस्वामी' लेख—
(सुप्रभातम्, पंचम वर्ष, प्रथमसंख्या)

में इनकी कुछ छिट-फुट उक्तियाँ मिलती हैं। वैयाकरण-आचार्यो में इनका शीर्षस्थानीय गौरव है इसके समर्थन में वोपदेव ने अपने शब्द-कल्पद्रुम में लिखा है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥

इन्होंने अपना 'अमरकोष' बड़े वैज्ञानिक नियम से निबद्ध किया है। स्वयं लिख भी दिया है —

समाहृत्यान्यतन्त्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः ।
सम्पूर्णमुच्यते वर्गैर्नामलिङ्गानुशासनम् ॥

इतने पर भी पण्डित-समाज में

'अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत्'[1]

ऐसे आभाणकों की प्रथा नास्तिक-दर्शनों के प्रति स्वतः सम्भाव्य असहिष्णुता की द्योतना करती है। कुछ लोगों का मत है कि द्वितीय काण्ड में गुजरात की साबरमती (शरावती) नदी को सीमा मान कर जो प्राच्य और उदीच्य देश का उल्लेख किया है इससे वे गुजरात काठियावाड़ के निवासी ठहरते हैं।[2]

अमरकोष

इनकी कीर्ति का अटल-अचल स्मारक अमरकोष या नामालिङ्गानु-शासन नाम का कोष ग्रन्थ है। इसके ३ काण्ड हैं। प्रत्येक काण्ड

---

१ महामहोपाध्याय शिवदत्त शर्मा—सम्पादित अमरकोष (निर्णय सागर) की भूमिका।

२ मैक्समूलर की "India, what can it teach us." प्रथम संस्करण पृ० ३२८।

में अनेक वर्ग हैं। समस्त ग्रन्थ में प्रायः अनुष्टुप छन्द का प्रयोग किया गया है।

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्यशेषाद् विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥'

इस नियमानुसार शाब्द-बोध के उत्पादक-व्युत्पादक विषयों में व्याकरण और कोष-ये दोनों मूल-भूत हैं। कहा भी गया है—

अवैयाकरणस्त्वंधः ! बधिरः कोषवर्जितः !!

और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अमरकोष रूपी शास्त्र से हीन विद्वान् की प्रगल्भवाणी शास्त्र-चर्चा की धारा में क्षणभर मे साहस-भ्रष्ट हो जायगी। विद्वान् तो प्रायः कहा करते हैं 'रघु-लघु-तर्क-अमर' (रघुवंश, लघुकौमुदी, तर्कसंग्रह, अमरकोष) ये चौकस-पण्डिताई के देनेवाले हैं। इस सम्बन्ध में निम्न-लिखित श्लोक सर्व-विदित है

अष्टाध्यायी जगन्माताऽमरकोशो जगत्पिता।
भट्टिकाव्यं गणेशश्च त्रयी ते सुखदा भवेत्॥

इस रूपक का तात्पर्य इतना ही है कि इन तीनों ग्रन्थों के सम्यक् अध्ययन से उत्तम वैदुष्य की प्राप्ति होती है। अमरकोष का चीनी और तिब्बती भाषा में छठी सदी में अनुवाद हुआ था! चीनी अनुवाद उज्जायिनी के गुणरात ने किया था। अपने नाम के अनुसार, सचमुच यह ग्रन्थ अमर है। अमरकोष की टीकाओं में अच्युत उपाध्याय का व्याख्याप्रदीप, अघपरीक्षित की अमरवृत्ति, आशाधर का क्रियाकलाप, काशीनाथ की काशिका, क्षीरस्वामी का अमर कोषोद्घाटन, गोस्वामि रचित बालबोधिनी, नयनानन्द एवं रामचन्द्र शर्मा की अमर कौमुदी, नारायण शर्मा की अमरकोष पंजिका, नारायण विद्या विनोद की शब्दार्थ सन्दीपिका, नीलकण्ठ की सुबोधिनी, परमानन्द की अमर कोषमाला,

बृहस्पति की अमर कोशमूनिका, भरतमल्लिक की मुग्धबोधिनी, भानु जी दीक्षित की व्याख्यासुधा, मञ्जुभट्ट की गुरुबालयु बोधिनी, मथुरेश विद्यालकार की सारसुन्दरी, मल्लिनाथ का अमरपद पारिजात, महादेव तीर्थ की बुध-मनोहरा, महेश्वर का कोषविवेक, मुकुन्द शर्मा की अमरबोधिनी, रघुनाथ चक्रवर्ती की त्रिकाण्ड-चिन्तामणि, राघवेन्द्र की अमरकोष व्याख्या, रामनाथ का त्रिकाण्ड विवेक, रामप्रसाद की वैषम्य कौमुदी, रामशर्मा की अमरकोष व्याख्या, रामस्वामी की अमरकोषविवृति, रामाश्रम की अमर टीका, रामेश्वर शर्मा की प्रदीपमजरी. रायमुकुट की पदचन्द्रिका, लक्ष्मण शास्त्री की अमरकोष व्याख्या, लिगभट्ट की अमरबोधिनी, लोकनाथ की पदमंजरी, श्रीकराचार्य की व्याख्यामृता, श्रीधर की अमरटीका, और सर्वानन्द का टीकासर्वस्व के नाम विख्यात हैं।[1] अमरकोष के प्राचीन टीकाकार क्षीरस्वामी और सर्वानन्द ने अमरकोष के पूर्ववर्ती कोष तथा उनके रचयिताओं में व्याडि की उत्पलिनी, कात्यायन का कात्यकोष, वाचस्पति का शब्दार्णव, भागुरि का त्रिकाण्डकोष, विक्रमादित्य का संसारावर्त, धन्वन्तरिकानिघण्टु अमरदत्त की अमरमाला, वररुचि की लिंग-विशेष-विधि आदि का उल्लेख किया है। इन सब कोषों के गुणों को लेकर अमरकोष की रचना की गई है इसलिये अमरकोष में कोई खास त्रुटि नहीं है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह हैं कि अकरकोष की रचना के बाद उसके पूर्ववर्ती सब कोषों को लोग भूलने लगे और अमरकोष के बाद विरचित कोषों में भी कोई इतना लोकप्रिय न हो सका।[2] जैसा कि हम लिख चुके हैं, अवश्य ही इनका कोई काव्य होगा जिसका आज पता

---

१ हिंदी विश्वकोष (प्राच्यविद्यामहार्णव नगेन्द्रनाथ वसु) पृ० ४६

२ संस्कृत-साहित्य का इतिहास (जोशी-भारद्वाज) पृ० ४३६

नहीं है। अमरकोष की सरस प्रवाहमयी शैली भी अपने निर्माता के अन्तर में मुखरित कवित्व-शक्ति को छिपा नहीं सकी है। यहाँ हम इनकी दो सूक्तियाँ दे रहे हैं—

'सोऽनङ्गः कुसुमानि पञ्चविशिखा पुष्पाणि बाणासनम्;
स्वच्छन्दच्छिदुरा मधुव्रतमयी पंक्तिर्गुणः कार्मुके।
एवंसाधन उत्सहेत स कथं जेतुं जगन्मन्मथः;
तस्यामोघममूर्भवन्ति नहि चेदस्त्रं कुरङ्गीदृशः।

स्वयं अंग-हीन ठहरा, पाँच फूलों का बाण है, फूल ही का शरासन भी है, क्षणभर में इधर-उधर हो जानेवाले वाली भ्रमर-श्रेणी धनुष की डोरी है, इस प्रकार के सारहीन साधन से सम्पन्न भी कामदेव, संसार को जीतने का दम क्यों कर रखता यदि ये 'मृगनयनियां' उसका 'अमोघ अस्त्र' न बनतीं !![1]

चिन्तामिमां वहसि किं गजयूथनाथ, ! योगीव योगवशमीलितनेत्रपद्म।
पिण्डं गृहाण, पिब वारि यथोपनीतं दैवाद् भवन्ति विपदः खलु सम्पदो वा॥

हे गजराज ! योगी की भांति लोचनों को मूंद कर कौन-सी चिन्ता में मग्न हो। जो कुछ मिलता है उसे खाओ-पीओ, सुख-दुःख तो दैव-वश आते-जाते ही रहते हैं।[2]

---

१ महामहोपाध्याय डा० उमेशमिश्र, सम्पादित 'विद्याकरसहस्रकम्' से।

२ 'कवीन्द्रवचन समुच्चय' से।

शङ्कु

—::—

नवरत्नों में अमरसिंह के अनन्तर इन्हीं का स्थान है। वास्तव में इनका नाम शङ्कुक है किन्तु नवरत्न श्लोक की सीमित पद-योजना में अन्तिम अक्षर से रहित नाम की ही स्थिति बैठ सकी। संस्कृत-कवियों के-

'अपि 'माषं' मषं' कुर्याच्छन्दोभङ्गन्न कारयेत्'

इस नियम में यह दृष्टिकोण समर्थनीय-अनुमोदनीय भी है। ये अलङ्कार-शास्त्र के उद्भट-विवेचक थे—इसका पता वाग्देवतावतार मम्मट भट्ट के काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास की रस-विवेचना से लगता है। नाट्य-शास्त्र के आदिम आचार्य भरतमुनि के द्वारा निष्पन्न—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः'

इस रस-लक्षण की व्याख्या अनेक आचार्यों ने अनेक प्रकार से की है किन्तु उनमें भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के व्याख्यानों का उल्लेख साहित्य-परम्परा में सर्वत्र प्राप्त होता है। इनमें प्रकृत-व्याख्याता 'शंकुक' का मत न्याय शास्त्रानुकूलत्वेन लब्धप्रतिष्ठ है। अपने सहृदय-पाठकों को उनकी पीयूष-स्राविणी पद-लहरी का आनन्द लेने के लिये हम यहाँ उनके उस संक्षिप्त किन्तु सहृदय-हृदय-हारी पद-सन्दर्भ को अविकल रख देते हैं—

राम एवायमयमेव राम इति, न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्-मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे—

सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता॥

दैवादहमत्र तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥

इत्यादि काव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभि कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः, संयोगाद् गम्यगमकभावरूपादनुमीयमानोऽपि वस्तुसौंदर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रसन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्री शङ्कुक प्रभृतयः[1]।

कितना चमत्कृत पद-बन्ध है ! अन्तिम 'श्री' शब्दपूर्वक नामोल्लेख इस कथन का प्रमायक है कि इनकी प्रतिष्ठा प्रौढ़-अलकार शास्त्र में कितनी बढ़ी-चढ़ी है इनके मत का तात्पर्य इतना ही है कि रस अनुमेय है और विभाव-अनुभाव-व्यभिचारि-सयोग उसका अनुमापक है। इनके विषय में यह भी प्रसिद्धि-प्रसिद्ध है कि ये सूर्यशतक प्रणोता महाकवि मयूर के आत्मज थे।[2] अवश्य ही इनका कोई अलङ्कारशास्त्र का ग्रन्थ रहा होगा जिसका आज कुछ भी पता नहीं है।

काव्य

कल्हण की राजतरगिणी में दो श्लोक इस प्रकार आये हैं।

'अथ मम्मोत्पलकयोरुदभूद् दारुणो रणः।
रुद्धप्रवाहा यत्रासीद् वितस्ता सुभटैर्हतैः ॥
कविर्बुधमनःसिन्धुशशाङ्कः शंकुकाभिधः।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम् ॥[3]

१ 'काव्यप्रकाश' (आनन्दाश्रम-सांकरण) पृ० ६४
२ 'काव्यप्रकाश' (वामनाचार्य-सम्पादित) की भूमिका
३ 'राजतरंगिणी' (यम्० ए० सैन-सम्पादित) चतुर्थतरंग पृ० ७०९

अर्थात् मम्म और उत्पल इन दो राजाओं में ऐसी लड़ाई हुई कि उसमें मरे हुए वीर सैनिकों की लोथों से वितस्ता (झेलम) का प्रवाह रुक गया !—उस युद्ध के वर्णन को लेकर कवि-कोविदों के हृदयरूपी समुद्र के चन्द्रमा शंकुक कवि ने 'भुवनाभ्युदयम्' नामक काव्य की रचना की।

काश्मीर राज्य के सिंहासन पर राजा जयापीड़ के बाद अजितापीड़ गद्दी पर बैठा था। इस अजितापीड़ को उसके पांच मातुलों ने राजासन पर बैठाया था। मम्म-उत्पल इन्हीं पांचों में से दो थे। इन श्लोकों से यह सिद्ध होता है कि इनका 'भुवनाभ्युदयम्' काव्य ख्याति की पराकाष्ठा को पहुँच चुका था, किन्तु आज काल-क्रम के झञ्झा-चक्र में पड़ कर वह अपने अस्तित्व को भी खो बैठा और पुरातत्त्व का विषय बन गया। अब तो प्रयत्न करने पर इनकी सूक्तियों का ही आनन्द लेकर हमें तृप्त होना पड़ता है— इनकी दो-चार सूक्तियां इस प्रकार हैं—

दुर्वाराः स्मरमार्गणाः, प्रियतमो दूरे, मनोऽत्युत्सुकम् ;
गाढं प्रेम, नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः, कुलं निर्मलम्।
स्त्रीत्वं धैर्य-विरोधि, मन्मथसुहृत्कालः, कृतान्तोऽक्षमी ;
नो सख्यश्चतुराः, कथं नु विरहः सोढव्य इत्थं मया।

अर्थात् कामदेव के बाण अचूक निशाना मार रहे हैं, प्राणनाथ परदेश में हैं (उनके लिये) मन अत्यन्त उत्कण्ठित है, अनुराग गाढ़ा है। अवस्था अभी नई-नई है, प्राण भी कठिन ही हैं (जो जल्दी निकल नहीं जाते), कुल पवित्र ठहरा, स्त्री का स्वभाव धैर्यशाली होता नहीं, आज-कल का समय (वसंत) पञ्चबाण का पक्का मित्र है, मृत्यु किसी को क्षमा करना जानती नहीं, सखी-सहेलियां भी ऐसी चतुर नहीं (कि प्रियमिलन का चुपके से प्रबन्ध कर देतीं)—ऐसी स्थिति में यह (मर्म-बेधी) विरह-दुःख किस भाँति सहूँ।

आजन्मस्थितयो महीरुह इमे कूले समुन्मूलिताः
कल्लोलःक्षणभङ्गुरश्च सहसा नीतः परामुन्नतिम् ।
अन्तः प्रस्तरसंग्रहो नहि परं भ्रश्यति गंधद्रुमाः ;
भ्रातः ! शोण ! न सोऽस्ति यो न हसति त्वत्सम्पदारोहणम् ।

शोणनद की भयावनी बाढ़ से पीडित-हृदय की यह मार्मिक उक्ति है—चिरकालसे तट पर जमे हुये वृक्ष जड़ से उखड़ गये, 'भिर-भिर' बहने वाली क्षीण जलधार सहसा वेगवती धारा में परिणत हो गई, पत्थर के टुकड़ों का जमाव भी नहीं हुआ पर सुन्दर गन्ध-मत्त पेड़-पौधे सदा के लिये उजड़ गये। सो हे भाई शोण ! समार में ऐसा एक भी सहृदय नहीं जो तुम्हारी इस सम्पदा (बाढ़) को देखकर उपहास नहीं करे !!

ये गृह्णन्ति हठात्तृणानि मणयो, ये चाप्ययःखण्डकम् ;
ते दृष्टाः प्रतिधाम दग्धमणयोऽविच्छिन्नसंख्याश्चिरम् ।
नो जाने किमभावतः, किमथवा दैवादहो, श्रूयते—
नामाप्यत्र न तादृशस्य हि मणेः, रत्नानि गृह्णाति यः !!

जो तिनके या लोहे के टुकड़े को अपनी ओर खींच लेने में समर्थ हैं– ऐसी क्षुद्र-मणियां—तो हजारों, घर-घर मारी फिरती दिखलाई देती हैं !! परन्तु–पता नहीं—अभाव-वश या दैव-योग से रत्नों को अपनी ओर खीचनेवाली मणियों का आज नाम भी नहीं सुन पड़ता (उनका) पता लगना तो दूर की बात है !

असमसाहससुव्यवसायिनः, सकललोकचमत्कृतिकारिणः ।
यदि भवन्ति न वाञ्छितसिद्धयो-हतविधेरयशो न मनस्विनः ॥

अपनी प्रतिभा और परिश्रम से ससार को चकित करने वाले पुरुष यदि मनचीती (किसी) बात में असफल होते हैं तो उनका दोष नहीं किन्तु ब्रह्मा का ही कलङ्क है।

वेतालभट्ट

—:o:—

वेताल भट्ट के नाम से संस्कृत-साहित्य में किसी स्वतन्त्र व्यक्ति का अस्तित्व प्राप्त नहीं है, पर विक्रमादित्य के जीवन में किसी वेताल का सम्बन्ध आवश्यक है। विक्रम और वेताल के सम्बन्ध में श्रोता और वक्ता के रूप में दोनों की कहानियां अपने देश में 'आबालपण्डित पामर' प्रसिद्ध हैं। संस्कृत के विद्वान् तो बात-बात में "पुनर्वेतालस्तत्रैव रमते" का प्रयोग करते देखे जाते हैं। हिन्दी में भी ऐसी कुण्डलियां सुनने को मिलती रहती हैं जिनमें "कहै वेताल विक्रम सुनो" का पुट रहता है। इनके विषय में दो मत हैं एक इन्हें मन्त्रविद्यानिपुण मानता है और दूसरा वैयाकरण। परन्तु उज्जयिनी के आधुनिक इतिहास-रसिक इन्हें मान्त्रिक और पक्षिशास्त्री मानते है। यों—वेताल शब्द का प्रयोग भगवान् शंकर के गण विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[1]

इनके नाम से संयुक्त होने के कारण 'वेताल पंचविंशतिका' इन्हीं की कृति मानी जाती है। पर इसके अनेक संस्करण अनेक प्रकार के हैं। जम्भलभट्ट, वल्लभदास तथा शिवदास आदि इसके अनेक सम्पादक प्राप्त होते हैं। इसमें हितोपदेश पंचतन्त्रादि की भांति प्रासङ्गिक गद्य-पद्यमें कुछ कथायें हैं। इसका अनुवाद 'वेताल पचीसी' के नाम से हिन्दी गुजराती आदि भाषाओं में हो चुका है। इसका एक मात्र आधार 'बृहत्कथामंजरी' ही है।

---

१ शब्दार्थ चिंतामणि (उदयपुर) पृ० ४३२

इन बातों की तह में एक विचित्र कथा 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका सिंहासनम्' में इस प्रकार आती है—

"विक्रमादित्य के समीप एक दिगम्बर साधु आया और उसने फल का उपहार भेट किया। चलते समय उसने कहा कि "हे राजन्! मार्गशीर्ष की कृष्णचतुर्दशी को महाश्मशान में मैं हवन करूँगा—आप परोपकारी महाप्राण व्यक्ति हैं—अतः कृपा कर मेरी सहायता करिये। वह सहायता इतनी ही है कि उस दिन मौन होकर वहां से थोड़ी दूर पर शर्मा वृक्ष पर लटकने वाले वेताल को मेरे पास लाना पड़ेगा अन्यथा मेरी कार्यसिद्धि नहीं होगी।" सम्राट् विक्रमादित्य के स्वीकार कर लेने पर वह चला गया।

ठीक कृष्णचतुर्दशी की रात मे दिगम्बर साधु महाश्मशान में हवन की सामग्री लेकर स्थित हो गया। विक्रमादित्य भी साधु के सकेतानुसार शमीवृक्ष से वेताल को उतार कर कंधे पर रख, चुपचाप, महाश्मशान की ओर आने लगे। वेताल ने विक्रमादित्य से कहा, 'राजन्! रास्ते की थकावट मिटाने के लिये कोई कहानी कहते चलो, पर राजा मौन-भङ्ग होने के भय से कुछ नही बोले। तब वेताल ने कहा—देखो, 'तुम मौन होने के कारण कहानी नहीं कह रहे हो, तो, मैं कहता हूँ, लेकिन कहानी की समाप्ति मे यदि कुछ न कहोगे तो तुम्हारा सिर सौ टुकड़े हो जायगा।' फिर उसने एक कथा इस प्रकार सुनाई—

हिमालय के दक्षिण भाग में विन्ध्यवती नगरी में सुविचारक नाम का राजा रहता था। उसके मयसेन नाम का लड़का था। वह मयसेन एक बार शिकार के फेर में एक हरिण का पीछा करता हुआ घोर जगल में पहुँच गया। उस जंगल से किसी प्रकार निकल कर राज मार्ग से लौटते हुये उसने किसी नदी के तट पर एक ब्राह्मण को अनुष्ठान करते हुये देखा। मयसेन ने उसके समीप जाकर कहा हे ब्राह्मण! जब तक मैं

जल पीता हूँ तब त क मेरे घोड़े को तुम पकड़े रहो।

ब्राह्मण ने कहा 'क्या मैं तुम्हारा नौकर हूँ, जो तुम्हारे घोड़े को पकड़े रहूँ ?' इस पर राजकुमार ने क्रुद्ध होकर चाबुक से उसको मार दिया। ब्राह्मण ने भी, मयसेन के पिता के पास सारी बातें कह दीं, जिसे सुनकर राजा ने पुत्र के अत्याचार से क्रुद्ध हो उसे स्वदेश से निकल जाने का दण्ड दिया। मंत्री ने कहा राजन्! राजभोग के योग्य कुमार को निर्वासन दण्ड देना ठीक नहीं। राजा ने कहा—मैंने बहुत ही उचित दण्ड दिया है. निर्वासन तो होना ही चाहिये. साथ साथ इसका हाथ भी काट देना चाहिये। ब्राह्मण से द्वेष करना साधारण पाप नहीं है। ब्राह्मण के शाप से शंकर, नृप, इन्द्र, नहुष जैसे प्रतापियों की क्या दशा हुई सो छिपी नहीं है। अतः जिस हाथ से इस राजकुमार ने ब्राह्मण को चाबुक मारा है उसका छेदन कर देना आवश्यक है।—तब उस आहत ब्राह्मण ने ही आकर कहा कि हे राजन! इन्होंने (राजकुमार) ने अज्ञान-वश मेरे ऊपर प्रहार किया है—अब आगे से ये ऐसा नहीं करेगा। अब इसको कोई भी दण्ड मत दीजिये। मैं आपकी कर्तव्य-बुद्धि से अत्यन्त प्रसन्न हूँ।" अन्त में राजा ने अपने पुत्र को दण्ड से मुक्त कर दिया, ब्राह्मण भी अपने स्थान को गया।

इस कहानी को सुनाने के बाद वेताल ने कहा राजन्! इन दोनो में कौन श्रेष्ठ था! विक्रमादित्य ने कहा 'राजा ही श्रेष्ठ था'—राजा के मौनभग से वेताल पुनः शमीवृक्ष पर जा लटका! इसी प्रकार २५ बार राजा का मौनभग हुआ और २५ बार कहानिया हुईं। उन कहानियों के अन्त में विक्रमादित्य की सूक्ष्म बुद्धि से प्रसन्न होकर वेताल ने उनसे कहा—'यह दिगम्बर साधु तुम्हारा घात करना चाहता है।' विक्रमादित्य ने पूछा 'सो कैसे।' वेताल ने कहा—वह साधु तुमसे कहेगा कि तुम थके हुये हो अतः अग्नि की प्रदक्षिणा और प्रणाम कर अपने घर जाओ। तब

प्रणाम करते समय तलवार से तुम्हारा सिर काट देगा। विक्रमादित्य ने कहा—तब इससे रक्षा का उपाय क्या है। वेताल ने कहा—जब तुमसे प्रणाम करने को वह कहे तो तुम उससे कहना कि 'मै चक्रवर्ती सम्राट् हूँ'—मैंने कभी किसी को प्रणाम नही किया—सो मैं प्रणाम करना नहीं जानता। इसलिये पहले तुम प्रणाम करने का ढग बतला दो तब मैं उसी रीति से करूँगा। तब वह साधु जैसे ही प्रणाम करने का ढग दिखलाने के लिये सिर झुकावे तब तुम खड्ग से उसका सिर काट देना—उसी समय आठो सिद्धिया तुम्हारे प्रत्यक्ष हो जांयगी।

तब, इसी नियम से सम्राट् विक्रमादित्य ने दिगम्बर साधु का नाश कर वेताल के कथनानुसार सिद्धि लब्ध की। उसी समय वेताल प्रकट होकर बोला—मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, वर मागो। सम्राट् ने कहा-यदि मुझ पर प्रसन्न हो, तो मैं जब स्मरण करूँ तब तुम मेरे पास आ जाया करो। वेताल ने 'तथास्तु' कहा।"

इस कथा से इतना ही निष्कर्ष निकल सकता है कि वेताल योनि का जीव विशेष सम्राट् विक्रमादित्य के वशीभूत था। इसके अतिरिक्त कोई विशेष वृत्त का सकेत नहीं मिल रहा है। हो सकता है, दरबार को कथा-वार्ता से प्रसन्न रखने वालों को यह उपाधि दी जाती हो, किन्तु वेताल भट्ट के नाम से एक 'नीतिप्रदीपः'[1] नाम का काव्यसग्रह मिलता है। इसमें कुल १६ श्लोक प्राप्त हैं। इस संग्रह की पुष्पिका में लिखा है—

"इति श्रीमहाकवि वेताल भट्ट विरचितं नीतिप्रदीपकाव्यं समाप्तम्।'

इनके कुछ पद्य रत्न इस प्रकार हैं—

---

१ काव्यसंग्रहः (प्रो० जान हेबरलिन-संपादित) पृ० ५२६

अपि दलन्मुकुले बकुले यया, पदमधायि कदापि न तृष्णया ।
अहह ! सा सहसा विधुरे विधौ मधुकरी बदरीमनुवर्तते ॥

जिसने मस्त-महकती मौलसिरी की ओर भूलकर भी लालच की आंख से नहीं देखा—आज वही भ्रमरी विधाता के वाम हो जाने से बेर के फल पर मडरा रही है !!

रत्नाकरः किं कुरुते स्वरत्नैः, विन्ध्याचलः किं करिभिः करोति ।
श्रीखण्डखण्डैर्मलयाचलः किं, परोपकाराय सतां विभूतिः ॥

रत्नाकर (समुद्र) अपने रत्नों से स्वय क्या लाभ उठाता है ! विन्ध्याचल को अपने हाथियों से क्या काम है ? मलयगिरि को अपने ऊपर उगनेवाले सुरभित चन्दन-तरुओं से क्या मतलब ? सची बात तो यह है कि सज्जनों की समृद्धि दूसरों के उपकार के लिये ही है ।

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव ।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण शाकोट निम्ब-कुटजान्यपि चंदनानि ॥

उन सोने और चाँदी के पहाड़ों से क्या लाभ, जिनके ऊपर के वृक्ष जैसे के तैसे बने रहते है। मैं तो मलय-पर्वत को ही श्रेष्ठ मानता हूँ जिसके ऊपर के नीब, अङ्कोल-कुटज आदि जंगली काठ भी चन्दन के समान सुगन्धि बगराते हैं !

येनाकारि मृणालपत्रमशनं, क्रीडा करिण्या सह,
स्वच्छन्दं भ्रमणञ्च कन्दरगणे, पीतं पयो निर्झरम् ।
सोयं वन्यकरी नरेषु पतितः पुष्णाति देहं तृणैः ।
यद्दैवेन ललाटपत्रलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥

—जिसने कभी, नरम-नरम कमल-नाल का भोजन किया, करिणियों के साथ लीला की, गिरि-कन्दराओं में स्वच्छन्द भ्रमण किया, झरनों का ठंडा-मीठा जल पिया, वही वन-हस्ती आज मनुष्य का बन्दी बनकर

पत्तों-तिनकों से पेट भर रहा है—सत्य है—दैव ने जो भाल पर लिख दिया है उसे मिटाने में कौन समर्थ है ?

निर्वाणदीपे किमु तैलदानं, चौरे गते किं खलु सावधानम् ।

वयोगते किं वनिताविलासः, पयोगते किं खलु सेतुबन्धः ॥

—दीप के बुझ जाने पर तेल का भरना कैसा ! चौर के भाग जाने पर जगने से लाभ ही क्या ? अवस्था ढल जाने पर रमणी-संग किस काम का ! और बाढ़ हट जाने पर पुल बनवाने से क्या लाभ !

नवं वस्त्रं नवं छत्रं, नवा स्त्री नूतनं गृहम् ।

सर्वत्र नूतनं शस्तं, सेवकस्तु पुरातनः ॥

कपड़ा, छाता, स्त्री, मकान ये नये ही अच्छे लगते हैं परन्तु सेवक तो पुराना ही ठीक है ।

घटखर्पर

—: ० :—

कहीं 'घटकर्पर', कहीं 'घटखर्पर' के नाम से इनका उल्लेख मिलता है। इनके वास्तविक नाम का तो पता नहीं लगता। जिस संस्कृत साहित्य में 'भेरीभाङ्कार', उत्प्रेक्षावल्लभ, गण्ड-गोपाल, वधिर, आकाश-पोल, हस्तिपक, निद्रादरिद्र, भिक्षाटन, मूक, लुट्टक, दग्धमरण, सीत्कारत्न, छमच्छमिकारत्न, और 'झलज्झलिका वासुदेव' जैसे विचित्र कविनाम मिलते हैं, उसमें घटखर्पर जैसा अनगढ नाम कुछ अधिक बीहड़ नहीं मालूम होता। कहा-जाता है, कि इनकी प्रतिज्ञा थी कि 'यमक' में जो कवि मुझे पराजित कर देगा मैं उसके यहाँ फूटे घड़े से पानी भरा करूँगा, और इसके लिये उन्होंने अनुराग-भरी रमणी के रमणीय-रमण और प्यास बुझाने के लिये, ली हुई जल की अञ्जलि की शपथ ली है। यह श्लोक इस प्रकार है।

भावानुरक्तवनितासुरतैः शपेयम्, आलभ्य चाम्बु तृषितः करकोशपेयम्।
जीयेम येन कविना यमकैः परेण, तस्मै वहेयमुदकं 'घटखपरेण ॥'

यह एक ऐसी बात हुई कि इनका वास्तविक नाम तो लुप्त हो गया और उसके स्थान पर प्रकृत नाम की ख्याति हो गई। प्राचीन ग्रन्थसूची में इनका उल्लेख गुप्तधन शास्त्रज्ञ के नाते प्राप्त है।

इनके विषय में यह किवदन्ती प्रसिद्ध है कि कालिदास के—

अनंतरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥

[हिमाचल अनन्त रत्नों का निधान है, तुषार उसकी शोभा को कम नहीं कर सका। सत्य है, गुणों के समूह में एक दोष उमी भाँति छिप जाता है जिस भाँति चन्द्रमा की किरणों में उनका काला दाग छिप जाता है]

इस श्लोक की अर्धाली से ये (घटखर्पर) सहमत न हो सके और इन्होंने उसका उत्तर भी इस रीति से लिखा—

"एको हि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे।
नूनं न दृष्टं कविना हि तेन, दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी !!

(गुणों के समूह में एक दोष छिप जाता है.....इत्यादि बात जिस कवि ने कहा सचमुच उसे ससार का कुछ अनुभव नहीं हैं (मेरे विचार से तो) एक ही–दारिद्र्यरूपी दोष-अनेक गुणों का नाश कर देता है)

इनके नामांकित प्रणीत (१) नीतिसार तथा (२) घटखर्पर काव्यम् दो पुस्तकें मिलती हैं। 'नीतिसारः'—में कुल २१ श्लोक है। सभी श्लोक नीति से ही सम्बन्ध रखते हैं, श्लोक सरस और प्रसन्न हैं। कवित्व और व्यावहारिकता की दृष्टि से इन पद्यों की प्रतिभा देखते ही बनती है। दूसरा 'घटखर्परकाव्यम्' तो साहित्य-परम्परा में पूर्णतया प्रसिद्ध है। कालिदास का मेघदूत जिस प्रकार विप्रलम्भ शृङ्गार से परिपूर्ण काव्यों का मुकुटमणि है उसी प्रकार इनका यह काव्य भी सयोग शृङ्गार का रस-छलाछल प्याला है। यह काव्य २२ पद्यों में समाप्त है। इस काव्य की ८ टीकाये हैं जिनमें अभिनवगुप्त पादाचार्य-विरचित 'कुलकवृत्ति' नाम की भी एक टीका है। इसके सभी पद्य चमक-भरे मोती के दाने हैं। अनुप्रास और यमक के प्रयोग के लिये कवि मे असाधारण क्षमता है। जिसका दर्शन प्रत्येक पद में दृश्यमान है। इसमें सर्वत्र शब्द-अर्थ भाव-भाषा, गुणरीति, रस-अलंकार इन सभी काव्य के उपादेय गुणों का यथास्थान उचित-उत्तम प्रयोग किया गया है। पावस ऋतु-रानी का

इतना मानसाकर्षक रसाप्लुतपरिपाक अन्यत्र मिलना सर्वथा असम्भव है।

नीलशस्यमतिभाति कोमलं, वारि विंदति च चातकोऽमलम्।
अम्बुदैः शिखिगणो विनाद्यते, का रतिः प्रिय ! मया विनाऽद्य ते ॥

धरती पर हरी-हरी कोमल घासों का मखमली बिछौना बिछा है। पपीहा स्वाती-बूंद का स्वाद ले रहा है। बादल का गर्जन सुन कर मयूर केकारव कर रहे हैं पर हे प्रिय ! तुम्हारे बिना यह सब-अच्छा नहीं लगता।

हँसा नदन्मेघभयाद् द्रवन्ति, निशामुखान्यद्य न चंद्रवंति।
न वाम्बुमत्ताः शिखिनो नदन्ति, मेघागमे कुन्दसमानदन्ति ? ॥

गर्जनशील मेघो के भय से हँस भाग रहे हैं। निशायें चन्द्रिकामयी नहीं निकलती, वर्षा से व्याकुल मयूर भी बोल नहीं रहे हैं। हे कुन्द-कली के समान दन्तपक्तिवाली प्रिये ! पावस ऋतु की यही शोभा है !

चलच्चित्तं चलद्वित्तं, चलज्जीवनयौवनम्।
चलाचलमिदं सर्वं, कीतिर्यस्य स जीवति ॥

मन-धन-जीवन और यौवन ही नहीं अपितु सारा संसार नाश-शील है। यहाँ एक मात्र 'कीर्ति' अविनाशी है। जिसके पास 'कीर्ति' है वह सदा जीवित है।

वृद्धस्य वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते।
सर्वत्रैव विचारेण नाहारे न च मैथुने ॥

आपत्ति आने पर प्रत्येक दशा मे बृद्ध के कथनानुसार ही व्यवहार करना चाहिये पर भोजन और भोग-सुख इन दोनों के विषय में उनसे कोई भी सम्मति न लें।

कृतस्य करणं नास्ति, मृतस्य मरणं तथा।
गतस्य शोचना नास्ति, ह्येतद्वेदविदां मतम् ॥

जो काम कर दिया गया, जो व्यक्ति मर गया, जो बात हो गई—उसका पुनः चिन्तन करना व्यर्थ है—यह सभी जानकारों का मत है।

नाकाले म्रियते जंतुर्विद्धः शरशतैरपि।
कुशकण्टकविद्धोपि, प्राप्तकालो न जीवति॥

यदि मृत्यु का समय नहीं है तो सैकड़ों बाणों से घायल होने पर भी प्राणी जीता ही रहेगा और यदि मृत्यु का समय आ गया है, तो कुश या कांटे के ही गड़ने से तुरन्त मर जायगा।

वराहमिहिर

—: ० :—

नवरत्नों में इनका स्थान ८ वां है। ज्यौतिष शास्त्र के परमाचार्यों में आर्यभट और लल्ल के अनन्तर इन्हीं की गणना की जाती है। भारतीय पण्डित-मण्डली में विश्वास है कि ज्योतिष वेदरूपी शरीर का नेत्र है। 'बृहज्जातक' के २६ वें अध्याय के पञ्चम श्लोक[1] से यह पता लगता है कि इन्होंने कालपी नगर में भगवान् सूर्य का बरदान पाकर अपने पितृपाद (पं० आदित्यदास) से ज्यौतिष सिद्धांत का पूर्ण अध्ययन किया और उज्जयिनी के सम्राट् से सम्मान प्राप्त किया। वहां इन्होंने लघुजातक, बृहज्जातक, विवाह पटल, बृहत्संहिता, योगयात्रा और पञ्च-सिद्धांतिका आदि ग्रंथों का निर्माण किया।

भट्ट उत्पल नाम के विद्वान् के लेख से यह ज्ञात होता है कि मगध में उत्पन्न होनेवाले शाकद्वीपीय ब्राह्मण वंश के ये अलङ्कार थे। 'बृहत्संहिता' इनकी अंतिम कृति कही जाती है। प्रतीत होता है कि इन्होंने अपनी नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा के सहारे अरबी-फ़ारसी आदि यवन-भाषाओं का भी प्रशस्त अभ्यास कर लिया था क्योंकि इनके 'बृहज्जातक' में, ताबुरि, जितुम, अनफा, सुनफा, हिबुक आदि शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। अपनी संहिता में इन्होंने गर्ग के एक वचन से विदेशीय यवनों की प्रशंसा भी की है। यथा—

---

१ आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः, काम्पिल्लके सवितृलब्धवरप्रसादः।
आवंतिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यक्, होरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार॥

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु, सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम् ।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते, किं पुनर्दैवविद् द्विजः ॥

अर्थात् यवन तो म्लेच्छ ठहरे; परन्तु उनमें भी इस (ज्यौतिष) शास्त्र का पूर्ण प्रचार है। और इस कारण वे ऋषियों के सदृश ही पूजा योग्य हैं। उस ब्राह्मण का क्या कहना है, जो ज्यौतिष शास्त्र का पूर्ण पण्डित है। इनके पुत्र का नाम 'पृथुयश' है। इनकी पुत्रवधू 'खना' की चतुराइयो की अनेक किंवदन्तिया हमारे देश का मनोरंजन करतीं हैं। इनका लघुजातक (जिस पर महोत्पल की टीका है) मिथिला प्रान्त में सर्वत्र प्रचारित है। काशी में 'बृहज्जातक' का पठन-पाठन चिरकाल से जागरूक है। इनके ग्रन्थों में मधुर पदावली का आनन्द हृदय को मुग्ध कर देता है।

इनके ग्रन्थों के अतिरिक्त सुभाषित संग्रहों में इनकी कुछ अनन्य सुन्दर रचनायें उपलब्द हैं।

नमस्तस्मै वराहाय, लीलयोद्धरते महीम् ।
खुरमध्यगतो यस्य, मेरुः कणघणायते ॥

अपनी साधारण लीला से पृथिवी का उद्धार कर देनेवाले भगवान् वराह की जय हो। जिसके दोनो खुरों के बीच में मेरुगिरि आभूषण के समान अनुरणन कर रहा है।

यस्य जना न वदन्ति महत्त्वं, नो समरे मरणं विजयं वा ।
न श्रुत एव प्रदानविधौ यः, तस्य भवः कृमि-कीट-समानः ॥

लोग जिसका गुणगान न करें, जो कभी समर में न विजेता न घायल हुआ अथवा जिसकी प्रसिद्धि दान देने में भी—नहीं है उस (मनुष्य) का जन्म कीड़े-मकोड़े के ही समान है।

वेश्यानामिव विद्यानां, वहवः सन्ति भोगिनः ।
हृदयग्राहिणस्त्वासां, विरलाः सन्ति वा न वा ॥

वेश्याओं की भाँति विद्याओं का भोग करने वाले भी बहुत हैं, पर उसको हृदयग्राही (वशीभूत) करने वाले विरले—कुछ लोग ही—हैं।

दुर्जनहुताशतप्तं काव्यसुवर्णं विशुद्धिमुपयातु ।
दर्शयितव्यं तस्मान्मत्सरिमनसः प्रयत्नेन ॥

काव्य रूपी सोना, दुर्जनरूपी अग्नि से तप्त होकर और निखर उठे—इसके लिये ईर्ष्यालु जनों को प्रयत्न-पूर्वक अपना काव्य दिखाना चाहिये ।

लोकः शुभस्तिष्ठतु तावदन्यः, पराङ्मुखानां समरेषु पुंसाम् ।
पत्न्योऽपि तेषां न ह्रिया मुखानि, पुरः सखीनामिव दर्शयन्ति ॥

समर से हार कर लौटे हुये पुरुषों को उत्तम लोक का मिलना न मिलना तो दूर की बात है—उनकी स्त्रियों को भी, मारे लज्जा के, अपना मुख सखी-सहेलियों को दिखाना 'दुश्वार' हो जाता है ।

वररुचि

—: ० :—

ये अन्तिम रत्न हैं किंतु बड़े ही पुण्य श्लोक। सुभाषित-सङ्ग्रहों मे अधिक से अधिक ८-१०[१] सूक्तियां इनकी लब्ध हैं—तथापि इनकी सत्कीर्ति नामाङ्कित कवियों से स्पर्धा करती है। सदुक्तिकर्णामृत, सुभाषितावली, और शार्ङ्गधर संहिता में इनकी रचनाये देखने मे आती हैं। संस्कृत-साहित्य में इस नाम के तीन व्यक्ति हैं—

(१) पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिककार,

(२) प्राकृत-प्रकाश के प्रणेता,

(३) सूक्तियों के निर्माता

प्रथम वररुचि के संबध मे 'हर-चरित चितामणि' के २७ वें प्रकाश (शब्द शास्त्रावतार) में एक वृहत् कुतूहल-जनक ऐतिह्य अंकित है जिसके अनुसार ये वर्ष उपाध्याय के शिष्य एव पाणिनि के प्रतिद्वन्द्वी सतीर्थ्य हैं। वहाँ ये भगवान् कार्तिकेय के प्रसाद से लब्धजन्मा बतलाये गये हैं।

किसी पदार्थ को एक बार भी सुन कर उसका सम्यक् बोध इन्हें हो जाता था अतः इनका एक नाम 'सकृद्ग्राही' भी था। पतजलि (महाभाष्कार) भी इनके साथी कहे जाते हैं। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में एक स्थान पर लिखा भी है—

"श्रूयते च 'पाटलिपुत्रे' शास्त्रकारपरीक्षा,
अत्रैव वर्षोपवर्षाविह पाणिनिरिह व्याडिः।
वररुचि-पतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥"

इस खण्डवाक्य से पूर्वोक्त-सन्दर्भ की पुष्टि होती है। पाटलिपुत्र की परम्परा ने ही व्याकरण शास्त्र को अनुप्राणित किया हैं। डा० भांडार कर के मत से इनका गोत्र 'कात्यायन' है और नाम वररुचि। पण्डित समाज में ये 'दाक्षिणात्यत्वेन' प्रख्यात हैं। इधर मैथिल विद्वान् इन्हें 'मैथिली-पगड़ी' पहनाने को उतारू हैं तदर्थ उन्होंने आटोपमय प्रमाण भी प्रस्तुत कर लिये हैं। इनकी बनाई 'लिङ्ग वृत्ति' की भी सूचना उन्होंने दी है। इनकी वंशावली में क्रमशः इनके बाद दशवीं पीढ़ी में पद्मनाभ मिश्र का नाम है जिन्होंने 'व्याकरणादर्शः' ग्रथ बनाया। पर जब उस ग्रंथ के सन्-संवत् का तथ्यपूर्ण संकेत न मिले तब तक यह मत तत्त्वहीन-सा जॅचता है।

महाभाष्य में उसके प्रणेता पतञ्जलि ने 'वाररुचं काव्यम्' लिखकर इनसे निर्मित किसी काव्य की सूचना दी है। पाणिनि ने जिस भाँति व्याकरणाष्टाअध्यायी में साथ 'जाम्बवतीजयम्' का निर्माण किया उस भाँति इन्होंने वार्तिक लेखन के साथ काव्य निर्माण किया—यह अनुमान सङ्गत होता है। बहुत से मनीषियों का अनुमान है कि उस काव्य का नाम 'कण्ठाभरणम्' है क्योंकि 'राजशेखर' ने लिखा है—

'यथार्थता कथं नाम्नि, मा भूद् वररुचेरिह।
व्यधत्त कण्ठाभरणं, यः सदारोहणप्रियः॥'

किन्तु इस समय तो इस काव्य का कहीं दर्शन ही नहीं मिलता है। इस सम्बन्ध में एक नई उपपत्ति देखने मे आ रही है गोंडल (गुजरात) के रसशाला आश्रम के व्यवस्थापक 'जीवराम' नामक सज्जन ने अपने पुस्तकालय में जीर्ण-क्षीर्ण दशा में प्राप्त ढाई पृष्ठों का एक काव्य प्रकाशित किया है। उसका नाम है 'कृष्णचरितम्' और उसके लेखक बताये गये हैं—'श्रीविक्रमाङ्क-महाराजाधिराज-परमभागवत-श्रीसमुद्रगुप्त' !! इसमें प्रसङ्गवश समुद्रगुप्त ने पाणिनि, शाङ्ख्यायन, वररुचि, व्याडि,

देवल, पतंजलि, भास, वर्द्धमान, चीनदेव, मिहिरदेव—इन कवियों का उल्लेख किया है। उसमें दो श्लोक इस प्रकार हैं—

शाङ्ख्यायनाय कवये, नमोऽस्तु कण्ठाभरणकर्त्रे ;
काव्यं यस्य रसाढ्यं, कंठाभरणं सदा विदुषाम्।
यः स्वर्गारोहणं कृत्वा, स्वर्गमानीतवान् भुवि ;
काव्येन रुचिरेणैव, ख्यातो 'वररुचिः' कविः ॥

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'कण्ठाभरण' शाङ्ख्यायन की कृति है और वररुचि के काव्य का नाम 'स्वर्गारोहण' है। परन्तु अभी यह मत निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्योकि 'कृष्णचरितम्' के प्राचीन जीर्णशीर्ण पृष्ठों की प्रतिलिपि न तो कहीं चित्र में उतारी गई है—और न तो किसी आप्त विद्वान् ने उसकी प्राचीनता की पुष्टि की है। आजकल साहित्य-क्षेत्र में इस प्रकार प्रतारित करनेवाली विडम्बनायें बहुशः देखने में आती हैं। अतः पूर्ण-परीक्षण के पूर्व राजशेखर का कथन ही समीचीन माना जायगा। मेरी दृष्टि में 'कृष्णचरितम्' एक नवीन और कल्पित वस्तु से अधिक आदर का पात्र नहीं क्योंकि उसकी रचना-शैली शिथिल तथा काव्योचित विशेषता से नितान्त विहीन है। सम्राट् समुद्र गुप्त के काल की संस्कृत-रचना सर्वतोमुखी काव्य-शोभाओं से विभूषित है उदाहरणार्थ हरिषेण की रचना का उल्लेख पर्याप्त है। अतएव यह दरिद्र वैखरी समुद्रगुप्त की हो ही नहीं सकती और इसमें 'कोपि हेतुर्भविष्यति' !

'पत्र कौमुदी' नामक एक ग्रंथ भी मिला है। जिसके प्रणेता भी वररुचि हैं उसका निर्माण भी विक्रमादित्य के आदेश से हुआ है-यह भी उसमें लिखा है। सम्भवतः ये विक्रम-कालीन हों तो कोई आश्चर्य नहीं। 'नीतिरत्न' नामक एक १५ श्लोकों का संग्रह भी मिलता है—जिसे भी इनका विरचित कहा जाता है। कवीन्द्रवचनसमुच्चय,

सूक्तिमुक्तावली, सूक्तिरत्नहार, आदि सुभाषित-संग्रहों में इनकी बहुत रचनायें संगृहीत हैं।

इतरपापफलानि यदृच्छया, विलिख तानि सहे चतुरानन ! ।
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं, शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ॥

अन्य अनेक पापो के फलो को (मेरे भाग्य में) अवश्य लिखो पर हे ब्रह्मा ! अ-रसिकों के सामने काव्यचर्चा करने का कार्य मेरे भाग्य में मत लिखना, मत लिखना, मत लिखना !

काकस्य चञ्चुर्यदि स्वर्णयुक्ता, माणिक्य युक्तौ चरणौ च तस्य ।
एकैकपक्षे गजराजमुक्ता, तथापि काको नहि राजहंसः ॥

कौए की चोंच यदि सोने मे मढ़ दी जाय, उसके पांवों में माणिक लगा दिये जायँ। और दोनों पाखों में गज-मुक्तायें लटका दी जायँ— फिर भी कौवा कौवा, ही रहेगा—वह राजहंस नही हो सकता।

संसार-विष-वृक्षस्य, द्वे फले अमृतोपमे ।
काव्यामृतरसास्वादः, आलापः सुजनैः सह ॥

इस संसार रूपी विषवृक्ष के दो अमृत-तुल्य फल हैं। एक तो काव्य सुधा का रसास्वादन और दूसरे सज्जन पुरुषों के साथ बातचीत !

भद्रं कृतं कृतं मौन, कोकिलैर्जलदागमे ।
दर्दुरा यत्र वक्तारस्तत्र मौनं हि शोभनम् ॥

पावस के दिन आ गये और कोयलों ने 'कुहू' 'कुहू' पुकारना छोड़ दिया। यह बहुत ही अच्छा किया। मण्डूकों की 'टर्र' 'टर्र' के सामने उनका मौन ही शोभायुक्त है।

अगाधजलसंचारी, न गर्वं याति रोहितः ।
अङ्गुष्ठोदकमात्रेण शफरी फर्फरायते ॥

बड़ी 'रोहित' मछली अगाध जल में जाकर भी तनिक नहीं गर्व करती परंतु क्षुद्र 'शफरी' (छोटी-मछली) अँगूठे भर जल में ही इधर-उधर चक्कर मारने लगती है।

सिंहावलोकन

—: ० :—

हम विदेशियों की दासता के बन्धन में जकड़े हुये प्राणियों के लिये विक्रमादित्य केवल ऐतिहासिक स्मृति अथवा एक गौरवशाली नाम मात्र ही नहीं हैं। इसका गौरव इससे कहीं अधिक है। वह भारतीय एकता और राष्ट्रिय आकांक्षाओं का प्रतिनिधि है। हमारे लिये वह २ हजार वर्ष की राष्ट्रिय स्मृति, अतीत के गौरव, वर्तमान की स्पृहा, भविष्य की लालसा तथा राजनैतिक शक्ति की महत्ता, राष्ट्रिय स्वाधीनता, सामाजिक एकता एवं सांस्कृति ऐश्वर्य का मिश्रण है। संक्षेप में भारत का राष्ट्रिय नायक विक्रमादित्य हमारा 'आग्नेय स्तम्भ' है।

—क० मा० मुंशी

आज का यह दिव्य-दिवस हमें दो सहस्र पूर्व की उस ऐतिहासिक घटना का स्मरण दिलाता है जब कि भारतमाता की छाती पर विदेशी शकों के उपद्रव और उत्पात का नग्न नृत्य हो रहा था। आर्यों की अकर्मण्यता के कारण शकों का आक्रमण सफल हो गया। भारत के पैरों में परतन्त्रता की विकट बेड़ी पड़ गई, देश दासत्व के दलदल में धंस गया। मौर्यसाम्राज्य की प्रतिभा मिट गई थी—अब बचीखुची एकता भी नष्ट हो गई। सारा देश साहसी शूरों से शून्य दिखाई देता था, कायरों के कुकृत्य से कलंकित हो रहा था। आर्यावर्त पर आक्रमणकारियों का अश्रुत आतंक छाया हुआ था, आर्यप्रजा के आर्तनाद से आकाश गूंज रहा था, महिलाओं की मानमर्यादा मिट्टी में मिल रही

थी। मिश्र, यूनान और बेबीलोनिया की पुरातन संस्कृतियाँ विस्मृति के वारिधि में डूब चुकी थीं और शकों के दुष्टाचरण से ऐसा भासित होने लगा था कि आर्य-संस्कृति का आस्तित्व ही मिट जायगा।

ठीक उसी समय भारत का भाग्य पलटा, आशा की किरणें छिटकीं, प्रकाश की झलक दिखाई पड़ी। महाराज विक्रमादित्य इतिहास के रंगमंच पर आये। उन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिये अस्त्र-शस्त्र धारण किया, युद्ध की घोषणा की और शकों से युद्ध छेड़ दिया। रणचंडी का खप्पर नररक्त से भर गया, भारतभूमि लहू से लाल हो उठी। वीरवर विक्रम विजयी हुए, शकों की घोर पराजय हुई। दासत्व की शृङ्खला खण्ड-खण्ड हो गई और देश की दसों दिशाएं गूंज उठीं कि देश स्वतन्त्र हो गया। उसी स्वतन्त्रता की स्मृति में विक्रमीय संवत् की सृष्टि हुई जिसकी आज द्वि सहस्राब्दी है और जो हमें युग-युगान्तर से -विषाद में सुख-दुःख में, उत्थान-पतन में, तथा अच्छे-बुरे दिनों में, धैर्य बंधाता, उत्साह बढ़ाता और आशा दिलाता आया है। विक्रमादित्य ने न केवल देश को ही स्वतन्त्र किया प्रत्यु विदेश में भी विजय वैजयन्ती फहराई है। उसी महाराज विक्रम की म : मृति पर आज हम श्रद्धाञ्जलि चढ़ाते हैं और उनके चरण-चह्नों पर चलकर भारतीय स्वाधीनता के लिये आत्मोत्सर्ग करने का शिव-संकल्प करते हैं।

—स्व मी भवानीदयाल सन्यासी

वह कितना पुण्यशाली नर-रत्न था जिसकी स्मृति हमारे हृदय को अब भी प्रभावित करती है आज हम पराधीनता के पाशसे इतने नियन्त्रित हैं कि अपने स्वर्णिम अतीत पर विश्वास भी करने में हिचकते हैं। देश-गाथाओं का उद्धरण इस ग्रन्थ के गत-अंशों में पाठक पा चुके हैं-अब अरब जैसे देश में विक्रम की न्यायशीलता के प्रामाणिक-विवरण को पढ़ने का कष्ट करें। एतदर्थ भारतीय

संस्कृति के अन्वेषक विद्वान पं० ज्ञानेन्द्रदेव सूफी के हम कृतज्ञ हैं। यह खोज इस प्रकार है—

सन् १७४२ ई० का काव्यसंग्रह

इस्ताम्बोल के प्रसिद्ध राजकीय पुस्तकालय "मकतबये सुलतानाय" वर्तमान "मकतबये जमहुरीय" जो तुर्की ही नहीं वरन पूर्वीय देशों में सबसे विशाल पुस्तकालय है। पुस्तकालय के अरबी विभाग में १७४२ ई० का लिखा हुआ काव्यसंग्रह देखने को मिला, जिसको तुर्की के प्रसिद्ध राजा "सुलतान सलीम" ने बहुत ही यत्नपूर्वक किसी प्राचीन प्रति के आधार पर लिखवाया था, यह हरीर (एक प्रकार का रेशमी कपड़ा, जो इसी कार्य के लिये बनाया जाता था) पर लिखा है और अत्यन्त सुन्दर सुनहरे बेलबूटेदार काम से सजा हुआ है। यह संग्रह तीन भागों में है, प्रथम भाग में अरब के आदि कवियों का अर्थात् इस्लाम से पहिले के कवियों का जीवन और उनके काव्य का थोड़ा सा नमूना दिया है। दूसरे भाग में मुहम्मद साहब के प्रारम्भिक काल से लेकर बनी उमय्या कुल के अन्त तक के कवियों का वर्णन है और तीसरे भाग में बनी अब्बास कुल के प्रारम्भ से प्रसिद्ध राजा, खलीफा हारूँ रशीद के दरबारी कवियों अर्थात लेखक ने अपने समय तक कवियों का वर्णन किया है। पुस्तक का नाम "सेअरुल उक़ोल" है। इसका लेखक (संग्रहीता ?) अरबी काव्य का कालिदास "अबु आमिर अब्दुल्ल असमई" है, जो इस्लाम के अत्यन्त प्रसिद्ध गौरवशाली राजा खलीफा हारूँ रशीद के दरबार का मुख्य कवि था। इस पुस्तक का पहिला एडीशन सन् १८६४ ई० में बर्लिन (जर्मनी) से प्रकाशित हुआ था, और दूसरा एडीशन सन् १९३२ ई० में बेरुत (फलस्तीन) से प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ अरबी काव्य का बहुत ही प्राचीन और प्रामाणिक ऐतिहासिक संग्रह माना जाता है।

'ओकाज' के कवि सम्मेलन

इस पुस्तक की भूमिका में प्राचीन अरब की सामाजिक अवस्था, मेल जोल, खेल-तमाशों के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला गया है, और मुख्य रूप से मक्का नगर जो बहुत ही प्राचीन काल से अरबों का तीर्थ-स्थान, पवित्र नगरी चला आ रहा था, उसके सम्बन्ध में इस पुस्तक में बहुत सुन्दर वर्णन किया है, उसमें से कुछ थोड़ा सा हाल जो हमारे विषय से सम्बन्धित है। हम यहाँ देते हैं—"मक्का नगर बहुत प्राचीन काल से तमाम अरब जाति का धार्मिक केन्द्र चला आ रहा था, यह पद कब और किन कारणों से इस नगर को मिला, इसका कोई पता नहीं चलता, परन्तु इतना निश्चित है कि हजारों वर्षों से सारी अरब जाति के भक्ति भाव का केन्द्र चला आ रहा था। वर्ष में एक बार विशेष अवसर पर यहाँ मेला लगता था, जो शरद ऋतु के प्रारम्भ में एक मास तक रहता, इस मेले का नाम "ओकाज़" था (अरबी भाषा में ओकाज़ उस उत्सव को कहते हैं जो किसी राजकुमार के राजगद्दी प्राप्त करने पर किया जाता है, अथवा राज्याभिषेक को 'ओकाज़' कहते हैं) यह मेला अरबों के धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक हर प्रकार के वाद-विवादों का केन्द्र होता और यहाँ से जो कुछ निर्णय हो जाता उसके आगे सारा देश सिर झुका देता, यहाँ एक बहुत बड़ा कवि-सम्मेलन भी होता जिसमे अरब के समस्त प्रसिद्ध २ कवि भाग लेते। प्रत्येक वर्ष दस पुरस्कार इस कवि सम्मेलन की ओर से दिये जाते, एक पुरस्कार प्रथम और नौ द्वितीय श्रेणी के होते, जिनका स्वरूप यह होता कि प्रथम रहनेवाले कवि की कविता को सोने के पत्रे पर लिखकर मक्का के प्रसिद्ध मन्दिर के भीतर लटका दिया जाता और दूसरे दर्जे पर रहने वाले नौ कवियों की कवितायें ऊँट की झिल्ली-अथवा भेड़-बकरी के चमड़े पर लिखकर मन्दिर के बाहरी भाग में लटका देते,

इसी प्रकार अरबी साहित्य का अमूल्य धन सैकड़ों हजारों वर्षों से उस मन्दिर में एकत्रित होता चला आ रहा था। यह प्रथा कब किन लोगों द्वारा प्रारम्भ की गई थी, इसका कोई पता नहीं चलता, किन्तु वह। संग्रहीत कविताओं से इतना पता अवश्य लगता है कि हजरत मुहम्मद साहब के जन्म से तेइस और चौवीस सौ वर्ष तक की पुरानी कवितायें

संग्रह का इतिहास

उस मन्दिर में मौजूद थी। किन्तु जब इस्लामी सेना ने मक्का नगर पर विजय प्राप्त की और मन्दिर पर अधिकार करके यहाँ की मूर्तियों आदि को नष्ट किया जाने लगा तो उसी के साथ वे तमाम सोने के पत्रे गला कर सेना में लूट के माल के रूप में बटवा दिये गये और जितनी कवितायें चमड़े अथवा झिल्ली पर लिखों हुई थीं उनको भी बर्बाद करा दिया गया। जिस समय मुस्लिम सेना यह लूट-पाट, तोंड़-फोड़ का कार्य कर रही थी उसके साथ एक प्रसिद्ध कवि था। इसका नाम "हस्सान बेने साबित" था यह हज़रत मुहम्मद साहब के दरबार का मशहूर कवि था, इसने एक अत्यन्त प्रसिद्ध कविता "क़सीदय बुर्दह" के नाम से मुहम्मद साहब की प्रशंसा और महानता पर लिखी है, जिसका भक्त मुसलमानों में बहुत आदर है, प्रायः रोजाना उसका पाठ करते हैं) एक कवि के नाते अथवा साहित्य प्रेमी होने के कारण इसके कुछ पत्र और चमड़े पर लिखी हुई कविताये अपने पास सुरक्षित रख लीं। बहुत दिनो तक उसके यह पत्रे पड़े रहे। उसकी तीसरी पीढ़ी मे अब्दुर्रहमान नाम का व्यक्ति हुआ, यह समय खलीफ़ा हारूँ रशीद का था, जिसके विद्या और साहित्य प्रेम की चर्चा तमाम देश में फैल रही थी। जब अब्दुर्रहमान को यह समाचार मिला, जो एक निर्धन व्यक्ति था, तो कुछ प्राप्ति की आशा से उन पत्रों को लेकर मदीना से बग़दाद गया, एक निर्धन परदेशी होने के कारण बड़ी कठिनाई के पश्चात् वह

(लेखक अबु आमिर अब्दुल्ला असमई) से मिला, उसने उसको खलीफ़ा के हुजूर में पेश किया, खलीफ़ा उन पत्रों और चमड़े के लेखों को देख कर बहुत प्रसन्न हुआ और हज़ारों पौंड उसको पारितोषिक स्वरूप दिये। पाँच सोने के पत्रे थे और सोलह चमड़े पर लिखी हुई कवितायें थीं। इन पाँच पत्रों में दो अरब के आदि कवि 'लबी वेंने, अख़तब बेने तुर्फ़ा के थे। इन पत्रों को देख कर खलीफ़ा ने लेखक को एक ऐसे ग्रन्थ के लिखने का आदेश किया जिसमें अरब के तमाम कवियों के जीवन और उनकी काव्य कला का वर्णन हो, तब लेखक ने इस पुस्तक की रचना की" [सेअरुल ओकूल के प्रथम भाग की भूमिका पृ० ४ तथा ५] इस संग्रह की एक कविता मैं पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ लिख रहा हूँ।

जर्हमका विक्रम-गुणगान

हजरत मुम्मद से एक सौ पैंसठ वर्ष पूर्व जर्हम बेनेताई नाम का एक कवि हुवा जो तीन वर्ष तक बराबर 'ओकाज' के कवि सम्मेलन में प्रथम आता रहा और इसकी तीन कवितायें सोने के पत्रों पर लिख कर मन्दिर के भीतर लटकाई गईं, जिससे सिद्ध होता है कि यह बहुत प्रतिभाशाली कवि था। इसकी कविता का जो नमूना दिया है वह हमारे इस कथन को सिद्ध करता है कि भारत के विद्वानों ने मानवजाति में शिक्षा और धर्म प्रचार के क्षेत्र में निःस्वार्थ भावना से कितना आदरणीय कार्य किया है, जिसको सैकड़ों और हजारों वर्ष बीत जाने पर भी विदेशी जातियाँ भूल न सकीं। जैसा कि जर्हम बेने ताई की निम्न कविता से प्रकट होता है—

इत्रश्शफाई सनतुल बिक्रमतुन ।
फ़हलमिन करीमुन यर्तफ़ीहा वयोवस्सरू ॥ १ ॥

बिहिल्लाहा यसमीमिन एला मोतकब्बेनरन ।
बिहिल्लाहा यूही कैद मिन होवा यफ़ख़रू ॥ २ ॥
फ़ज़्ज़ल-आसारि नहनो ओसारिम बेजेहलीन ।
युरीदुन बिआबिन कज़नबिनयख़तरु ॥ ३ ॥
यह सबदुन्या कनातेफ़ नातेफ़ी बिजेहलीन ।
अतदरी बिलला मसीरतुन फ़केफ़ तसबहू ॥ ४ ॥
कऊन्नो एज़ा माज़करल हदा वलहदा ।
अशमीमान बुरुकन क़द् तोलुहो वतस्तरू ॥ ५ ॥
बिहील्लाहा यक़ज़ी बैनना वले कुल्ले अमरेना ।
फ़हेया जाऊना बिल अमरे बिकरमतुन ॥ ६ ॥

अर्थात्—धन्य हैं वह लोग जिन्होने राजा विक्रम के राजकाल में जन्म लिया, जो बड़ा दानी, धर्मात्मा और प्रजा पालक था ॥१॥ परन्तु ऐसे धर्मपरायण राजा के राज्यकाल में ईश्वर को भूलकर भोग-विलास मे हमारा देश (अरब) लिप्त था, छल, कपट को ही लोगों ने सब से बड़ा गुण मान रखा था ॥२॥ हमारे तमाम देश में अविद्या ने अन्धकार फैला रखा था, जैसे बकरी का बच्चा भेड़िये के पंजे में फसकर छटपटाता है और छूट नही सकता ऐसे ही हमारी जाति मूर्खता के पजे में फँसी हुई थी ॥३॥ संसार के व्यवहार को अविद्या के कारण हम भूल चुके थे, सारे देश मैं अमावस्या की रात्रि के समान अन्धकार फैला हुआ था, परन्तु अब जो विद्या का प्रातःकालीन सुखदायी प्रकाश दिखाता है वह कैसे हुआ ? ॥४॥ यह उसी धर्मात्मा राजा (विक्रम) की कृपा है जिसने हम विदेशियों को भी अपनी दया दृष्टि से वंचित नहीं रखा, और पवित्र धर्म का संदेश लेकर यहाँ अपनी जाति के विद्वानों को भेजा जो हमारे देश में सूर्य की तरह चमकते थे ॥५॥ जिन महापुरुषों की दया से हमने भुलाये हुए ईश्वर और उसके पवित्र ज्ञान को जाना और सत्य पथगामी हुए, वे

लोग राजा विक्रम की आज्ञा से हमारे देश में विद्या और धर्म प्रचार के लिये आये थे ! (सेअरुल ओकूल पृ० ३१५) !!

सच तो यह है कि—आज हम उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम से सर्वथा च्युत हैं। कुशल कर्णधार के अभाव में पारावार-पोत के समान हम विपत्ति-प्रभञ्जन के थपेड़ों से जर्जर हैं। हमने अपनी आत्मशक्ति को विस्मृत कर दिया है। इस समय तो शास्त्राभिप्राय-शून्य अनन्तानन्त क्षुद्रविषयादि सुखाभास-संलग्न परलोक-पराङ्मुख नृ-देहों का आतान-वितान विश्वभूमि को आक्रान्त कर रहा है। सर्वत्रधन-जन-शक्ति के संहार का अभिनय प्रत्यक्ष हो रहा है। हमारे प्राचीन ज्ञान-विज्ञान अपने दौर्भाग्य का अनुभव करते हैं। न तो आज प्रकृति-प्रेम-भरे मुनि-आश्रम हैं और न तो पलाशपाणि, धृतकमण्डलु, निश्छत्र, निष्पादत्राण, निरञ्जन किशोर-ब्रह्मचारियों का कहीं दर्शन होता है !! आज की यह देवभूमि सर्व-दिगन्तों में तिमिरोपप्लुता, नाथहीना, प्रपञ्च शालिनी, निरुद्यमा, अनृत-माया-साहसवती, अचेतना, किंनाम विविध दूषणों की निश्चित केन्द्रस्थली-सी दृश्यमान है।

हमें क्या पता है कि इतिहास के अमिट पृष्ठों पर हमारी कीर्तिकथाये अभी चमक रही है। हमें क्या पता कि हमारी जन्मभूमि में अगणित आदर्श मानव-रत्न उत्पन्न हुये जिन्होंने 'दिगन्त विश्रान्त रथ' होकर दिगन्त व्यापी साम्राज्यों का क्षमता पूर्ण सञ्चालन किया है। क्या हम वही हैं जिनके पूर्वजों ने एक ओर ज्ञानाग्नि से कर्म-पुञ्ज को भस्मसात् तथा दूसरी ओर कृपाण की खरतर धारा से अरातियों का समूल कृन्तन किया था। क्या हम आज यह नहीं भूल गये हैं कि हमारी जाति की ज्वलन्त सतियों ने धधकते अंगारों में अपने को खपा कर हमारे जीवन का पथ प्रशस्त किया। क्या हम वे ही हैं जिन्होंने कभी आकाश से गिरती हुई अखण्ड जलधारा को स्थिर किया है और दुर्भेद्य पहाड़ों को नन्दन बन बनाया है ?

इन सब क्रान्तिमय विचारो के भीतर एक समस्या है जिसे सुलझाना ही पड़ेगा। आज का आर्य-हृदय अपनी सच्ची शिक्षा को भूलता जा रहा है—वह जितना ही भूलता है उतना ही उसे प्रकृति का दण्ड भोगना पड़ रहा है। सम्राट् विक्रम की द्विसहस्राब्दी के रूप में हमारी सभ्यता का संक्रान्ति-काल उपस्थित है। यही समय है कि हम जननी-जन्मभूमि के पूर्व गौरव का स्मरण, वर्तमान का चिन्तन और भविष्य का अनुमान कर लें।

'यदर्थं जननी सूते तस्य कालोऽयमागतः'

जो संशयात्मा या भीरु-हृदय हैं उनका तो 'निधु मन्दिर निवास' ही शोभन है पर तेजस्वी तरुण सभ्यता-प्रेमियों का आवश्यक कर्तव्य है कि वे विक्रमादित्य का वास्तविक महत्व समझें। अपनी विकीर्ण शक्ति को सुसंघटित करें और मातृभूमि के सच्चे पुत्र की भाँति उसका यह नित्य नूतन संदेश सुनें—

त्वमेवं प्रेतवच्छेषे, कस्माद् वज्रहतो यथा।
उत्तिष्ठ हे कापुरुष! मा स्वाप्सीः शत्रु निर्जितः॥
उद्भावयस्व वीर्यं वा, तां वा गच्छ ध्रुवां गतिम्।
धर्मं पुत्राग्रतः कृत्वा, किंनिमित्तं हि जीवसि॥
निरमर्षं निरानन्दं, निर्वीर्यमरिनन्दनम्।
मा स्म सीमन्तिनी काचित्, जनयेत्पुत्रमीदृशम्॥
एतावानेव पुरुषो, यदमर्षी यदक्षमी।
क्षमावान्निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान्॥

अत:—

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथम्॥

—(महाभारत-उद्योगपर्व)

अर्थात्—हे कापुरुष! वज्र-हत होकर मृत की भाँति क्यों सो रहे हो! शत्रु से पराजित हो सुख की नींद मत लो, उठो।

हे पुत्र! या तो अपना पराक्रम दिखाओ या धर्म के नाम पर उत्तम गति को प्राप्त करो-और कामों के लिये तुम्हारा जीवन व्यर्थ है।

ईश्वर न करे कि तुम जैसा अमर्ष-हीन, आनन्द-हीन, वीर्यहीन और शत्रु-हर्षवर्धक पुत्र को, कोई माता उत्पन्न करे।

वह पुरुष कैसा? जो (शत्रु के प्रति) अमर्ष न करे या बदला न चुकावे। अमर्षहीन और सर्वदा क्षमा कर देने वाला व्यक्ति न पुरुष है न तो स्त्री है!

इसलिये—

हे पुत्र! मन में संकल्प-सिद्धि का पूर्ण निश्चय करके दृढ़ विश्वास के साथ उठो! जागो! और कार्यों में लग जाओ!

ॐ नमो भारतवर्षाय !!

आशीर्वाद

१ भारत का आर्थिक शोषण, २ म० गाँधी का समाजवाद, ३ हमारी पारिवारिक व्यवस्था— लेखक डा० पट्टाभी सीतारमैया ।

४ साम्राज्य शाही के कर्णधार—लेखक सायमन हैक्सी

(१) मैंने मातृ-भाषा-मन्दिर द्वारा प्रकाशित उपरोक्त पुस्तकें देखीं । पुस्तकें सामयिक, पठनीय तथा संग्रहणीय हैं । आशा है हिन्दी पुस्तक प्रेमी इन्हें अपनाकर प्रकाशक का उत्साह बढ़ायेंगे—**श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, प्रधान U.P.C.C.**

(२) उपर्युक्त चारो पुस्तकें देखी। मुझे अच्छी लगी सामयिक और उपयोगी होने से इनका प्रचार होना चाहिये—**सम्पूर्णानंद, भू० पू० मिनिस्टर U. P.**

(३) आपकी चारों पुस्तकें देखी, इन्हे बहुत ही उपयोगी पाया । थोड़े में हिन्दी भाषा भाषियों को सामयिक समस्याओं को समझाने और उनके हलको बतलाने का जा आप विशेषज्ञों के लेखो के आधार पर कर रहे हैं, सर्वथा प्रशंसनीय है । आशा है आपके सदुद्देशों की सिद्धि होगी ।

—श्रीप्रकाश, सेवा आश्रम, बनारस ।

(४) साम्राज्य शाही अच्छा ग्रन्थ है । ग्रेट ब्रटेन के राजनीतिज्ञो के आर्थिक स्वार्थों का बड़ा प्रामाणिक वर्णन है । हमारे प्रत्येक राजनैतिक कार्यकर्ताओं को इस ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिए ।

भारत का आर्थिक शोषण नामक ग्रन्थ भी बड़ा ही शिक्षाप्रद है । इसे पढ़कर हमारे कार्यकर्ता भी हमारी आर्थिक समस्या से परिचित हो जायेंगे । आशा है इन पुस्तको का अच्छा प्रसार होगा ।—**बालकृष्ण शर्मा, सम्पादक प्रताप ।**

(५) आपके द्वारा भेजी हुई चारों पुस्तकें महामना पं० मदनमोहन मालवीय महाराज को बहुत पसन्द आईं । वे आपके इस उपयोगी प्रकाशन की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं । तथा उनकी इच्छा है कि इस प्रकार की लोकोपयोगी पुस्तकों से देश भर की पढ़ी लिखी जनता लाभ उठावे । **आत्म सचिव**

—श्री महामना पं० मदनमोहन मालवीय

भारत में अंग्रेज़ी राज्य के यशस्वी लेखक, कर्मवीर सुन्दरलाल जी लिखते हैं—

(६) कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी के योग्य मेम्बर डाक्टर वी० पट्टाभी सीतारमैया देश के बड़े से बड़े राजनैतिक नेताओं में से हैं । वे अर्थशास्त्र और राजनीति के भी पूरे पण्डित् हैं । 'भारत का आर्थिक शोषण' पुस्तक में १५० वर्ष के अन्दर हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों की आर्थिक नीति का खाका खींचा गया है । किस तरह इस देश से ज्यादा धन लूटना अंग्रेज़ी राज्य का सबसे बड़ा उद्देश्य है...... ।